Master of Arts

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - 1

(HINDI LITERATURE)

(DISTANCE MODE)

Centre for Distance and Online Education

TEERTHANKER MAHAVEER UNIVERSITY

N.H.-09, Delhi Road,

Moradabad, Uttar Pradesh244001

Website: www.tmu.ac.in

EXPERT COMMITTEE

Dr.Omprakash Singh,
Assistant Professor
VARDHMAN COLLEGE BIJNOR, U.P.

Dr. Poonam Chauhan
Assistant Professor
S.B.D. GIRLS DEGREE COLLEGE DHAMPUR, U.P.

COURSE COORDINATOR

Dr. Namrta Jain
Assistant Professor
Faculty of Education, Teerthanker Mahaveer University. (TMU)

BLOCK PREPARATION

Unit Writers	Assisting & Proof Reading	
Dr. Namrta Jain,	**Dr. M. P. Singh**	**Dr. Vinod Kumar Jain**
Assistant Professor	**Professor**	**Associate Professor**
TMU	**TMU**	**TMU**

Secretarial Assistance and Composed By :

Mr. Deepak Malik
Assistant Registrar,
Faculty of Education, TMU.

COURSE INTRODUCTION

The Bharatiy Evan Paashchaaty Kaavyashaastr - 1course, worth five credits and comprising five blocks, aims to enhance your understanding of political concepts and provide knowledge about various states.

This course adopts a cross-curricular approach to boost both your political and academic knowledge, making it easier and more efficient for you to comprehend study materials in other subjects.

The course is divided into five blocks of different units. The Block titles are as follows:

Block 1 **- संस्कृत काव्य शास्त्र**

Block 2 **- रीति सिद्धांत**

Block 3 **- ध्वनि सिद्धात**

Block 4 **- हिन्दी कवि**

Block 5 **- हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्रियां**

Each Unit is divided into sections and sub-sections. We begin each Unit with a statement of objectives to indicate what we expect you to achieve through the Unit. There are several activities in each section of the Unit which you must attempt. You should then check your answers with those given by us at the end of the Unit.

There are assignments based on this course. After completing the assignments, submitted to the CDOE, TMU. The assignment is evaluated and returned to you with comments which will help you to improve your proficiency in political Science.

We hope you enjoy the Course. Please attempt all the activities and exercises given in the Units.

Acknowledgements:

The material (pictures and passages) we have used is purely for educational purposes.

Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this

book. Should any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future editions of this book.

BLOCK INTRODUCTION

Block 1 (संस्कृत काव्य शास्त्र) has four Units. Under this theme we have covered the following topics:

Unit 1 : **संस्कृत काव्य शास्त्र**

Unit 2 : **संस्कृत काव्य शास्त्र**

Unit 3 : **रस सिद्धांत**

Unit 4 : **अलंकार सिद्धांत**

संस्कृत काव्य शास्त्र की अध्ययनशीलता साहित्यिक कला के गहरे पहलुओं को उजागर करती है, जिसमें रस सिद्धांत और अलंकार सिद्धांत प्रमुख हैं। रस सिद्धांत कविता के भावात्मक प्रभाव को समझाता है, जबकि अलंकार सिद्धांत काव्य की रचनात्मकता और सौंदर्यशास्त्र को दर्शाता है। ये सिद्धांत संस्कृत काव्य शास्त्र के आधारभूत तत्व हैं, जो काव्य की संरचना और उसकी प्रभावशीलता को समझने में सहायक होते हैं।

We suggest you do all the activities in the Units, even those which you find relatively easy. This will reinforce your earlier learning.

Course Code: DMAH103	**CORE COURSE** **एम्.ए. प्रथम सेमेस्टर** **(हिंदी साहित्य)** **प्रश्नपत्र – तृतीय** **भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - 1**	**L-5** **T-0** **P-0** **C-5**
Course Outcomes:	पाठ्यक्रम अधिगम परिणाम को पढ़ने के उपरांत विद्यार्थी:-	
CO1.	काव्य लक्षण, काव्य हेतु और काव्य प्रयोजन का सैद्धांतिक विवेचन कर सकेंगे।	
CO2.	भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार और रीति सिद्धांतों का आलोचनात्मक विश्लेषण और काव्य पर अनुप्रयोग कर सकेंगे।	
CO3.	भारतीय काव्यशास्त्र के वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांतों का आलोचनात्मक विश्लेषण और काव्य पर अनुप्रयोग कर सकेंगे।	
CO4.	भारतीय काव्यशास्त्र के औचित्य सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण कर सकेंगे	
Course Content:		
Unit-1:	संस्कृत काव्य शास्त्रः काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के प्रकार। रस सिद्धांत :रस का स्वरूप, रस-निष्पत्ति, रस के अंग, साधारणीकरण, सहृदय की अवधारणा। अलंकार सिद्धांत : मूल स्थापनाएं, अलंकारों का वर्गीकरण।	**10 Hours**
Unit-2:	रीति सिद्धांत : रीति की अवधारणा, काव्य गुण , रीति एवं शैली. रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं वक्रोक्ति सिद्धांत: वक्रोक्ति की अवधारणा , वक्रोक्ति के भेद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद।	**10 Hours**
Unit-3:	ध्वनि सिद्धात: ध्यनि का स्वरूप, ध्वनि-सिद्धांत की प्रमुख स्थापनायें, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद गुणीभूत- व्यंग्य, चित्रकाव्य। औचित्य सिद्धान्त - प्रमुख स्थापनाएं, औचित्य के भेद।	**10 Hours**
Unit-4:	हिन्दी कवि: आचार्यों का काव्य शास्त्रीय चिन्तन : लक्षण-काव्य परपरा एवं कवि-शिक्षा	**10 Hours**
Unit-5:	हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्रियां : शास्त्रीय, ऐतिहासिक, तुलनात्मक , मनोविश्लेषणवादी सौन्दर्यशास्त्रीय, शैली वैज्ञानिक , समाज शास्त्रीय ,	**10 Hours**
Text Books:	1 भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य चिंतन - डॉ० सभापति मिश्र -जयभारती प्रकाशन इलाहाबाद 2. साहित्यशास्त्र - डॉ० विवेक शंकर राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 3 काव्यशास्त्र - डॉ० भगीरथ मिश्र विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी 4. रस मीमांसा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 5 आलोचक और आलोचना – डॉ० बच्चन सिंह 6भारतीय काव्य शास्त्र - डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह 7. भारतीय काव्यशास्त्र - प्रो० सत्य देव चौधरी	
Reference	*** Latest editions of all the suggested books are recommended**	

Books:		

इकाई-1

संस्कृत काव्य शास्त्र: काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के प्रकार।
रस सिद्धांत :रस का स्वरूप, रस-निष्पत्ति, रस के अंग, साधारणीकरण, सहृदय की अवधारणा।
अलंकार सिद्धांत : मूल स्थापनाएं, अलंकारों का वर्गीकरण।

रूप रेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य

1.3 शब्द संपदा
1.4 'काव्य की आत्मा'

1.5 काव्य हेतु तथा काव्य के प्रयोजन

1.6 काव्य के प्रकार

1.7 हिन्दी में रस-विचार का प्रवर्तन

1.8 अलंकारवादियों के काव्य सिद्धांत की व्याख्या

1.9 अलंकारों का वर्गीकरण

1.10 सारांश
1.11 स्व-मूल्यांकन प्रश्न
1.12 पठनीय पुस्तकें

1.1 प्रस्तावना

रस के विषय में विस्तृत विवेचना सर्वप्रथम भरत मुनि के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में 'काव्यास्वाद' को ही रस कहा गया है। रस को 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' और 'ब्रह्मानंद सहोदर रूप भी कहा गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि काव्य को पढ़ने और नाटक को देखने से प्राप्त होने वाला आनंद सामान्य नहीं होता उसमें कुछ अलौकिकता होती है। यह लौकिक प्रमाण का विषय नहीं बन सकता है और न ही उसे कहकर बताया या समझाया जा सकता है। वैसे तो रस किसी भी पदार्थ का सारतत्व है। लेकिन साहित्य का रस उसके सौंदर्य और आनंद दोनों को बताता है। रस सप्रदाय को सर्वोपरि मानने वाले संस्कृत आचार्य तो काव्य में रस की महत्ता को सर्वोपरि बताते ही हैं। अन्य संप्रदायों के प्रवर्तक और समर्थक भी रस के महत्व से इंकार नहीं करते हैं।

भरत मुनि द्वारा रस नाम दिए जाने के पीछे उसके 'आस्वाद्यत्व' की भूमिका है। वे कहते हैं जिस प्रकार नाना भाति के व्यंजनों से सस्कृत (परिष्कृत) अन्न को खाने वाले पुरुष रसो का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त करते हैं. उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनय द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक, आगिक तथा सात्विक अभिनय से युक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं। भोजन का स्वाद रसना (जिल्ह्वा) ग्रहण करती है जबकि काव्यास्वाद सहृदय के मन को मिलता है। यद्यपि काव्यास्वाद प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझने

के क्रम में आचार्य रामचद्र शुक्ल की बहु-सदर्भित व्याख्या को ध्यान में रखना आवश्यक है- जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है. उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।'

1.2 उद्देश्य

- रसानुभूति की प्रक्रिया के बारे में जान सकेंगे,
- रस निष्पत्ति की मूल अवधारणा और विभिन्न आचार्यों के मतों से परिचित हो सकेंगे,
- साधारणीकरण की प्रक्रिया को समझ पाएंगे, और साधारणीकरण के विषय में सस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों के विभिन्न मतों के बारे में जान सकेंगे।

1.3 शब्द संपदा

अनुसंधान : समानता के कारण नटादि में रामत्व का आरोप।
अनुमाप्य-अनुमापक: जिसका अनुमान किया जाए अर्थात रस अनुमान किया जाए अर्थात विभावादि। जिसके द्वारा
अनुकृति : अनुकरण (नकल)।
उत्पाद्य: जिसका उत्पादन हो यहाँ तात्पर्य रस से है।
उत्पादक : जो उत्पादन करे यहाँ तात्पर्य विभावादि से है।
कवि निबद्ध : कवि द्वारा रचा हुआ।
व्यंजक : जिस शब्द के द्वारा व्यंजना शक्ति से अर्थ निकलता है, उसे व्यंजक कहते हैं। व्यंग्य व्यंजना शक्ति से जो अर्थ निकलता है उसे व्यंग्य कहते हैं।
सहृदय तन्मय भाव से काव्य का आस्वाद ग्रहण करने वाला।
रस निष्पति के प्रसग में सुमनस, प्रेक्षक, प्रमाता, सामाजिक आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। काव्य अथवा नाटक का आस्वाद ग्रहण करने वाले पाठक और दर्शक की विशिष्टता को ये सनी शब्द अभिव्यक्ति देते हैं।
विभावादि: विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव।
प्रमाता : दृष्टा (यहाँ तात्पर्य सहृदय से ही है जो नाटक का दृष्टा है)।

1.4 'काव्य की आत्मा'

आत्मा शब्द का अर्थ

आत्मा एक दार्शनिक शब्द है और यह मनुष्य भी चिन्मय (चेतन) शक्ति का द्योतक है। इसके अभाव में मानव सत् मात्र अर्थात् पदार्थ है। जिस प्रकार जड़ शरीर की महत्ता चैतन्य आत्मा के सन्दर्भ में है, उसी प्रकार जिस तत्व से काव्य का काव्यत्व है, उसका नाम ही काव्य का जीवित, प्राणतत्व अथवा आत्मा है। इस प्रकार काव्य के सन्दर्भ में आत्मा शब्द का अर्थ वह अन्तस्तत्व है जिसके द्वारा उसमें चमत्कार अथवा आनन्द का समावेश होता है और उससे ही वह सहृदय प्राह्य होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य पुरुष के रूपक की कल्पना का श्रेय राजशेखर को है परन्तु 'आत्मा' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने किया है। बाद में ध्वनिकार ने भी मूलतत्व के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक ने उसके लिए 'जीवित' शब्द का व्यवहार किया है। संस्कृत काव्य की आत्मा तत्व काव्य की चारुता में मूलाधार को आत्मा मानकर उसके अनुसंधान का प्रयत्न संस्कृत काव्यशास्त्र की चिन्तन गम्भीरता का परिचायक है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस की प्रतिष्ठा की थी परन्तु श्रव्यकाव्य में परिनिष्ठित रस की कल्पना सम्भव न मानकर चारुता के आधार की खोज के विभिन्न प्रयत्न हुए। इन प्रयत्नों को ही आज सिद्धान्त विशेष के रूप में मान्यता प्राप्त है। इनकी संख्या छः है- अलंकार सिद्धान्त-भामह द्वारा प्रवर्तित तथा दण्डी और रूद्रट आदि द्वारा समर्थित। रीति सिद्धान्त वामन द्वारा प्रवर्तित ।

ध्वनि सिद्धान्त-आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित तथा अभिनवगुप्त और मम्मट आदि द्वारा समर्पित।

वक्रोक्ति सिद्धान्त-कुन्तक द्वारा प्रवर्तित। औचित्य सिद्धान्त-क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित।

रस सिद्धान्त- द्वारा प्रवर्तित तथा भट्टनायक और विश्वनाथ आदि द्वारा समर्थित। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन सिद्धान्तों का परवर्ती आचार्यों द्वारा पोषण हुआ है, उनकी सम्प्रदाय संज्ञा है, शेष की सिद्धान्त। अलंकार ध्वनि तथा रस-सिद्धान्त सम्प्रदाय रूप में मान्य हैं। काव्य सिद्धान्तों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है-

1. अलंकार सिद्धान्त-संस्कृत काव्यशास्त्र में आज भामह को अलंकार सम्प्रदाय का आदि आचार्य माना जाता है। भामह ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के दो वर्गों-एक द्वारा शब्दालंकारों को और दूसरे द्वारा अर्थालंकारों को प्रमुखता देने का उल्लेख करके अलंकारों की सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा की प्राचीन परम्परा का संकेत दिया है। भामह ने अलंकारों को काव्य की आत्मा तो नहीं कहा, परन्तु उन्होंने काव्य में उनकी निर्भान्त महत्ता स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की है-

"न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितानन्म्।" भामह ने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों को समान महत्व देते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और इन दोनों प्रकार के अलंकारों को ही काव्य की चारुता का आधार माना है। दण्डी ने अलंकार शब्द के अन्तर्गत रस, ध्वनि तथा गुण को भी समेट लिया है। इष्टार्थव्यंजिका शब्दावली को काव्य मानते हुए उसका आधार अलंकार को माना है। उद्भट ने सभी काव्य तत्वों को रसवत् अलंकार में समाविष्ट करते हुए काव्य में अलंकार की अनिवार्य स्थिति मानी • है। रूद्रट ने दोषों को असार और अलंकारों को सार कहते हुए काव्य में…

समेटा है-रीति गुणों के आश्रित हैं, गुण रस के धर्म हैं और रस ध्वनि का विषय है। आनन्दवर्धन के अनुसार गुणालंकार आदि का नाम लेने से तो चमत्कारानुभूति नहीं हो जाती, इनकी रसनीयता व्यंजना का विषय है और यही ध्वनि है। ध्वनि सिद्धान्तों को आगे चलकर अभिनवगुप्त का पोषण तथा मम्मटाचार्य का समर्थन मिला।

4. वक्रोक्ति सिद्धान्त-कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलंकारों में विशिष्ट तथा सौन्दर्यशाली मानते हुए उसे काव्य का जीवित घोषित किया- 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्।' वक्रोक्ति की परिभाषा कुन्तक के अनुसार-वैदग्ध्यभंगीभणितिः अर्थात् अलौकिक चमत्कारपूर्ण कथन है। कुन्तक ने इस वक्रोक्ति को काव्य का नित्यधर्म माना और इसके भेदोपभेदों की कल्पना करते हुए रस, अलंकार आदि का इसके भीतर ही समावेश किया। कुन्तक के इस सिद्धान्त को किसी भी आचार्य का समर्थन नहीं मिला। वस्तुतः इसमें दृष्टिकोण की उदारता-अनुभूति के महत्व की स्वीकृति तो है परन्तु रसवत् अलंकार को अलंकार्य मानने का दुराग्रह भी इसमें सम्मिलित है। अलंकार को अधिक महत्व देने की वृत्ति भी इसकी अलोकप्रियता का कारण सिद्ध हुई।

5. औचित्य सिद्धान्त-आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम औचित्य के महत्व की चर्चा की और उसकी अतिरिक्त महत्ता का प्रतिपादन क्षेमेन्द्र ने किया है। क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य काव्य के मूलतत्व-रस का प्राण है। औचित्य भी रसपूर्ण काव्य का स्थिर जीवन है। रस भंग का कारण अमौचित्य ही है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को महत्व देते हुए भी उसका सीधा सम्बन्ध काव्य से न जोड़कर रस से जोड़ा है। उसने कभी भी रस, ध्वनि वक्रोक्ति के समान औचित्य को काव्य जीवित नहीं माना। सर्वत्र ही उसे रस का सहायक तत्व कहा है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने काव्य की आत्मा के किसी सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया। काव्य की आत्मा रस को स्वीकार करते हुए उसके समयक् परिपाक और रक्षा. के उपाय के रूप में औचित्य का विधान किया है यही कारण है कि आज के मनीषी आलोचक क्षेमेन्द्र के औचित्यवाद को काव्य की आत्मा के सिद्धान्तों में परिगणित ही नहीं करते।

6. रस-सिद्धान्त-इसके प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि हैं। उसके अनुसार- "न हिरसाद्दते कश्चिदत्यर्थः प्रवर्तते।"अर्थात् रस के बिना किसी भी अर्थ की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। भरत के समय तक काव्य और नाट्य में भेद नहीं हुआ था। भरत के परवर्ती कतिपय आचार्यों ने दृश्य काव्य में तो रस को मूलतत्व मान लिया परन्तु श्रव्य काव्य में परिनिष्ठत रस की स्थिति सम्भव न मानकर उन आचार्यों ने अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की परन्तु ऐसा करते हुए वे रस की उपेक्षा नहीं कर सके। अलंकारवादी रुद्रट के अनुसार-सरस काव्य की रचना से भी कवि कीर्ति-प्रीति प्राप्त करता है-

"ज्वलदुज्जवल वाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।"

अग्निपुराणकार ने वाग्विदग्धता को महत्व देते हुए भी रस को काव्य की आत्मा माना है- "वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" ध्वनिसमर्थक आचार्य अभिनवगुप्त ने भी रस को सर्वाधिक प्रतिष्ठा देते हुए कहा है- "रसनैव सर्व जीवति काव्यम् ।"

राजशेखर ने स्पष्ट ही रस को काव्य की आत्मा माना है- "शब्दार्थो ते शरीरम् रस आत्मा।"

अनुमानवादी महिमभट्ट ने स्पष्ट उद्द्घोष किया है कि रस के काव्य की आत्मा होने में किसी का भी मतभेद नहीं- "काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्याचिद्विमतिः ।" कविराज विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानते हुए उसकी मूलतत्व के रूप में स्वीकृति की है- "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम् ।"अपनी काव्यतत्व सम्बन्धी पृथक मान्यता के संस्थापक आचार्यों ने भी रस की उपेक्षा नहीं की। ध्वन्याचार्य ध्वनि को काव्यात्मा मानते हुए भी रसध्वनि को प्रमुख स्थान देते हैं। औचित्यवादी क्षेमेन्द्र काव्य का काव्यत्व रससिद्ध होने में स्वीकार करते हैं।

समीक्षा-वस्तुतः काव्य की आत्मा के गौरव को वही प्राप्त कर सकता है जो उसका मूलतत्व हो और अन्वय व्यतिरेक भाव से जिसकी स्थिति में काव्य का काव्यत्व और जिसके अभाव में काव्य का अकाव्यत्व सिद्ध हो। इस दृष्टि से विचार करने पर रस का पलड़ा ही भारी बैठता है और वही काव्य का अपरिहार्य और मूलतत्व सिद्ध होता है। अलंकार बाह्य शोभावर्धक होते हैं और सहज सुन्दर तो अलंकरण की अपेक्षा ही नहीं रहती उक्ति प्रसिद्ध है- "नहीं मोहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी।" आन्तरिक और सच्ची शोभा गुणाश्रित होती हैं और अलंकारों का गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं। रीति के आधारभूत गुण किसी अन्य (गुणी) के उत्कर्ष विधायक हैं। वक्रोक्ति-वाग्वैदग्ध्य भी बाह्यगुण हैं, औचित्य तो रसोपकारक सामान्य तत्व हैं। मूलतः मूलतः ये चारों-अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य-काव्य के बाह्यपक्ष (कलापक्ष) से ही सम्बन्ध रखते हैं। ध्वनि की रस से कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं। ध्वनिकार रस को ही उत्तम काव्य मानते हैं, अस्फुट रस वाली रचनाओं' को भी वे काव्य मानने के पक्ष में हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में रसविहीन रचना सम्भव ही नहीं। निष्कर्षतः संस्कृत काव्यशास्त्र में रस को ही काव्यात्मा के रूप में गौरव प्राप्त हुआ।

2. काव्य की परिभाषा दीजिए तथा इसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए। काव्य की लाक्षणिक विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर- काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप बड़ा व्यापक है। जितना व्यापक है, उतना ही सूक्ष्म है। अतः इसे लक्षण की परिधि में बाँधना कठिन है। प्रारंभ से आज तक काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने, उसके लक्षण- निर्माप्प तथा परिभाषाओं में बाँधने के प्रयत्न किये जाते हैं परन्तु उसका विकासशील रूप लक्षणों और परिभाषाओं की सीमा से बाहर ही दिख पड़ता है। काव्य की व्यापकता का प्रमाण तो यही है कि संसार के सभी देशों और जातियों में प्रारंभ से ही काव्य, किसी न किसी रूप में पाया जाता है। निरक्षर अशिक्षित लोगों के कंठ से काव्य की धारा फूट निकलने के प्रमाण हमारे सामने हैं। असभ्य कही जाने वाले जातियों का भी अपना समृद्ध काव्व-संसार है।

संस्कृति साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य माना जाता है। काव्य शास्त्र के सृजेताओं में प्रमुख हैं भामह, वामन, मरम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि। इन सभी ने काव्य के स्वरूप को अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है। इनमें सबसे व्यापक परिभाषा मम्मट की सिद्ध हुई है-शब्द तथा अर्थ का वह रूप जो दोष रहित हो, जो गुण एवं अलंकार • से युक्त हो, जो कहीं-कहीं अलंकार के बिना भी हो, काव्य है। रीतिकालीन साहित्यकारों ने संस्कृत की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए काव्य के स्वरूप को अपने ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कविवर ग्वाल ने आनंद और चमत्कार दोनों की ही सिद्धि को काव्य के लिए आवश्यक माना है।

आधुनिक काल में भी महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा नंददुलारे वाजपेयी सहित सभी ने काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। द्विवेदी युग में उपयोगितावाद की धूम रही। छायावादी युग में कलावाद ने बल पकड़ा। आचार्य शुक्ल ने काव्य के सामाजिक घरातल पर बल दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काव्य के मानवतावादी पक्ष को प्राथमिकता दी। प्रगतिवादी युग में काव्य के रूप निर्धारण में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को महत्व दिया गया। वर्तमानकाल में निवैयक्तिकता की धूम है,

पर काव्य के लिए रस सवर्वोपरि है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा कि शब्द अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं। अंग्रेजी साहित्यकारों ने भी काव्य के स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिसमें प्रमुख हैं-डॉ. जॉनसन, मैकाले, बडर्सवर्थ, मैथ्यू आर्नल्ड, टी.एस. इलियट। डॉ. जॉनसन की परिभाषा इस प्रकार है-कविता सत्य और आनंद के मिश्रण की ऐसी कला का नाम है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

आई.ए. रिचर्ड्स ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा कि अधिकाधिक आंतरिक भूख को तृप्त कर पाना और इस प्रकार तृप्त करना कि उनमें से कम से कम असंतुष्ट रहे, काव्य है। इस प्रकार जीवन के समान काव्य का पूरा रूप न तो उद्घाटित हुआ है; और न हो सकेगा। इसी रहस्य में काव्य और जीवन का आनंद निहित है। समय-समय पर साहित्यकारों द्वारा स्पष्ट किए गये तथ्यों पर प्रकाश डाला जाये तो एक ही बात सामने आती हैं; वह है काव्य का मूलतः राग की धरोहर होना; और सहानुभूति में कलागत सौन्दर्य का भी पुट होना अर्थात् काव्य व्य के दो मूलाधार है- "रस और रमणीयता।" काव्य की सरिता इन्हीं दो किनारों के बीच बहती रहती है; और आगे भी बहती रहेगी।

काव्य के लक्षण

काव्य के लक्षण तीन माने गये हैं-1. स्थायित्व, 2. व्यक्तित्व का प्रतिफलन और 3. रागात्मकता।

1. स्थायित्व-साहित्य की प्रत्येक कृति का महत्व स्थाई बना रहता है। साहित्य में इस स्थायित्व का मूल कारण यह है कि उसमें रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव मिश्रित रहता है, जिससे उसी विषय पर दूसरे व्यक्ति की रचना पहली रचना की स्थानापन्न नहीं हो सकती। जैसे-राम के चरित्र को लेकर तुलसी, केशव और मैथिलीशरण गुप्त ने महाकाव्य लिखे हैं। तीनों का महत्व अपनी जगह सुरक्षित है।

2. व्यक्तित्व का प्रतिफलन-व्यापक दृष्टि से व्यक्तित्व के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उसकी विचारधारा, उसका ज्ञान-कोष, उसकी अनुभूतियाँ, पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति उसकी रुचि और उसके व्यवहार आदि के समन्वित रूप को लिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक कवि की रचना में उसकी विचारधारा अनुभूति आदि वैयक्तिक विशेषताओं के कारण रचनाओं में अंतर आ जाता है। इसी अंतर को व्यक्तित्व का प्रतिफलन कहते हैं जिसके कारण काव्य रचनाएँ अमर हो जाती हैं।

3. रागात्मकता-काव्य का तीसरा प्रमुख लक्षण उसकी रागात्मकता को बताया गया। काव्य में निर्जीव और शुष्क तथ्यों का वर्णन नहीं होता अपितु भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाशन होता है। काव्य में वर्णित भावनाएँ, हमारे हृदय को आन्दोलित करती हैं। अपनी भावोत्पादिनी क्षमता के कारण ही काव्य, काव्य की संज्ञा प्राप्त करता है। काव्य के तत्व-काव्य के मुख्यतः चार तत्व निर्धारित किये गये हैं-(1) भाव, (2) कल्पना, (3) बुद्धि, (4) शैली।

1. भाव-काव्य का सर्वप्रमुख तत्व भाव है। यही उसकी आत्मा है। साहित्य का लक्ष्य पाठक की ज्ञान वृद्धि करना नहीं अपितु उसके हृदय को भावनाओं से आप्लावित कर देना होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति भावों के चित्रण के द्वारा सम्पन्न होती है।

2. कल्पना-काव्य का दूसरा तत्व कल्पना है। काव्य में भावनाओं का चित्रण कल्पना- शक्ति के प्रयोग द्वारा सम्पन्न होता है। एक साधारण घटना को भी कवि कल्पना के रंग में रंग, एक ऐसा भव्य रूप प्रदान कर देता है कि वह हमारे हृदय को बलात् आकर्षित कर लेता है। कवि अपनी कल्पना के बल पर दूसरे के सुख-दुःख और दूसरों की अनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार कर लेता है कि वह हमारा सुख-दुःख बन जाये। 3. बुद्धि-काव्य का तीसरा तत्व बुद्धि है। बुद्धि का संबंध तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों से है। काव्य में किसी न किसी मात्रा में तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों का भी समावेश किया जाता है। इनके अभाव में कोरी भावनाओं का स्पंदन दुःखी का चीत्कार बन जायेगा तथा बुद्धि- शून्य कोरी कल्पना और पागल के प्रलाप में कोई अंतर नहीं रह जायेगा। भावनाओं की सुदृढ़ ईंटों को वह विचारों के गारे से जोड़कर काव्य-भवन का निर्माण करता है।

4. शैली-काव्य का चौथा तत्व शैली है। साहित्यकार जिस भाषा, जिस रूप और जिस ढंग से अपने भावों, विचारों को व्यक्त करता है, वही शैली है। शैली के अंतर्गत भाषा शब्द- चयन, अलंकारों का प्रयोग, छंदों का उपयोग, काव्य रूप आदि का समावेश किया जाता है। काव्य के प्रारंभिक

तीन तत्व यदि उसके प्राण हैं तो शैली उसका शरीर है। जैसे बिना शरीर के प्राण नहीं टिक सकते, वैसे ही बिना भाषा आदि के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। इस प्रकार काव्य के प्रमुख लक्षणों एवं उनके तत्वों की व्याख्या के बाद हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार ईश्वर के अनेक रूप एवं अनेक नाम हैं, उसी प्रकार काव्य भी नाना रूपों और नाना संज्ञाओं से विभूषित हैं। उसकी आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार तभी संभव है जब हमारे हृदय में भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाश हो, हमारे मस्तिष्क में साधना का बल हो।

काव्य हेतु एवं काव्य प्रयोजन

1.5 काव्य हेतु तथा काव्य के प्रयोजन

(अ) काव्य हेतु, (ब) काव्य का प्रयोजन।

उत्तर- काव्य हेतु आचार्य भामह ने काव्य के मुख्य प्रयोजन दो माने हैं-प्रीति और कीर्ति। प्रीति, कीर्ति च साधु काव्य निवेषणम् अर्थात् आनंद का संबंध सहृदय से और कीर्ति या यश का संबंध कवि से है। कवि को कवि कर्म के निर्वाह में तीन दिशाओं से सहायता मिलती है। उन्हीं को हेतु कहते हैं। ये तीन हेतु माने गये हैं-शक्ति, निपुणता और अभ्यास। इन्हीं तीनों के समुचित समन्वय से श्रेष्ठ काव्य का निर्माण होता है। डॉ. भगीरथ मिश्र ने काव्य के तीन प्रकार के कारण (हेतु) माने हैं-प्रेरक, निमित्त और उपादान।

1. प्रेरक-कवि की सामाजिक, पारिवारिक या वैयक्तिक परिस्थितियाँ तथा उसकी प्रकृति है जिससे उसे काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त होती है।

2. निमित्त-कवि की प्रतिभा है। यह प्रतिभा कवि की उर्वर कल्पना, सौन्दर्यानुभूति, संवेदनशीलता, शब्द और अर्थतत्व की सूक्ष्म परख में देखी जा सकती है।

3. उपादान-शास्त्रीय ज्ञान, सत्संग, श्रवण, मनन और काव्य रचना के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक ! इसे अभ्यास और अध्ययन द्वारा बढ़ाया जा सकता है। काव्य की प्रेरणा व्यक्ति को कहाँ से प्राप्त होती है? इस संबंध में विद्वानों के अलग- अलग मत है जैसे आदि कवि वाल्मीकि को काव्य रचना की प्रेरणा क्रौंच-वध की प्रसिद्ध घटना से प्राप्त हुई। महाकवि कालिदास ने मेघ से प्रेरणा प्राप्त की। भक्तिकाल के कवियों का मूल प्रेरणा स्रोत इष्टदेव का चरित्र रहा है। भारतेन्दु युग के कवि अपने समाज और राष्ट्र की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत ने विरह वेदना को काव्य-रचना का मूल कारण बताया है-

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

प्रगतिवादी कवियों का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवन-दर्शन, सामाजिक-विषमता, शोषक वर्ग की विलासिता और शोषित वर्ग की दीनता आदि में ढूँढा जा सकता है। वास्तव में हम कह सकते हैं कि विभिन्न युगों में तथा विभिन्न वर्गों के कवियों में काव्य प्रेरणा के मूलाधार भी भिन्न-भिन्न रहे हैं। इन्हें हम संक्षेप में इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं-

1. बाह्य प्रकृति और जगत् के किसी दृश्य, घटना, परिस्थिति या अवस्था का प्रभाव।

2. किसी व्यक्ति, आश्रयदाता, गुरु या मित्र की प्रेरणा।

3. किसी विचार या जीवन दर्शन का प्रभाव।

4. लौकिक या अलौकिक प्रणय, विरह या शोक की अनुभूति।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रकृति, जगत्, व्यक्ति आदि के संपर्क से उत्पन्न किसी विचार या भाव की अनुभूति ही काव्य-प्रेरणा की मूल स्रोत है। प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति काव्य प्रेरणा नहीं बन सकती। जिस व्यक्ति में काव्य रचना की प्रतिभा और शक्ति होगी, उसी की अनुभूतियाँ

काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकती हैं। साथ ही अनुभूतियों की सघनता एवं मार्मिकता का परिणाम भी महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की कुछ विशेष मार्मिक अनुभूतियाँ ही कवि के हृदय को काव्य-रचना के लिए प्रेरित कर पाती हैं।

काव्य का प्रयोजन

काव्य के प्रयोजन को लेकर अनेक मतवाद प्रचलित हैं। ये मतवाद आधुनिक युग में भी दिखाई पड़ते हैं। कवि और पाठक, दोनों के काव्य-प्रयोजन में थोड़ा बहुत अंतर होना स्वाभाविक है। अतः हम पहले कवि के दृष्टिकोण से विचार करते हुए काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। काव्य-प्रकाश के रचयिता मम्मट ने काव्य निर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है कि यश की प्राप्ति, संपत्ति का लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोग आदि विपत्तियों का नाश, तुरंत ही उच्च कोटि के आनंद का अनुभव और प्रेयसी के समान मधुर उपदेश देने के लिये काव्य ग्रंथ प्रयोजनीय हैं। इस आधार पर काव्य के निम्नलिखित प्रयोजन स्वीकार किये जा सकते हैं-

1. यश प्राप्ति-प्रायः कविगण यश प्राप्ति के उद्देश्य से ही काव्य रचना में प्रवृत्त होते हैं। कुछ महान कवि ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका उद्देश्य भले ही आरंभ में यश प्राप्त न रहा हो, किन्तु काव्य रचना के बाद वे अपनी रचना की प्रशंसा. अवश्य चाहते हैं।

2. अर्थ प्राप्ति-काव्य का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोजन अर्थ या धन है। रीति काल के अधिकांश दरबारी कवियों ने धन प्राप्ति के उद्देश्य से ही अपने आश्रय दाता की प्रशंसा में काव्य लिखे हैं। बिहारी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उन्हें प्रत्येक दोहे के लिए एक स्वर्ण मुद्रा दिये जाने का वचन दिया गया था। आधुनिक युग में भी अनेक कवियों पर प्रकारान्तर से यह बात लागू होती है।

3. व्यवहार ज्ञान-बहुत से कवि अपने निकट संबंधियों, मित्रों या पुत्र आदि को नीति एवं व्यवहार की शिक्षा देने के लिए भी काव्य रचना करते हैं।

4. लोकहित-अपने युग और समाज को अनिष्ट से बचाने के लिये भी काव्य रचना की जाती है। कुरुक्षेत्र के रचयिता दिनकर ने काव्य में विश्व को अनिष्ट से बचाने के लिये शांति का संदेश दिया है।

5. आत्म शांति-काव्य रचना के अनन्तर कई बार कवियों को अपूर्व शांति एवं आनंद का अनुभव होता है। अतः इसे ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया जाता है।

6. उपदेश-अपने उपदेश, विचार या सिद्धांत को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए भी काव्य का माध्यम अपनाया जाता है। कबीर, नानक आदि संत कवियों ने अपने विचारों का प्रकाशन कविता के माध्यम से किया है। आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने कला का व्यापक प्रयोजन समाज हित स्वीकार करते हुए कहा है- "मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही, स्वार्थनी करते कला को व्यर्थ ही।" इस प्रकार हमारे कवियों ने कला का प्रयोजन केवल स्वार्थ साधन तक ही सीमित न मानकर परमार्थ और लोक-हित की साधना को स्वीकार किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य का लक्ष्य मनुष्य जाति का हित करना मानते हैं। वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं- 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजीद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक विभिन्न विद्वानों और कवियों ने काव्य प्रयोजन के संबंध में विभिन्न बातें कहीं हैं। इन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-यथार्थवादी दृष्टिकोण अर्थात् कवि, काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होती है। दूसरा आदर्शवादी दृष्टिकोण जिसमें यह बताने का प्रयत्न किया है कि काव्य प्रयोजन क्या होना चाहिये।

पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मत

पाश्चात्य देशों में काव्य को एक कला मानते हुए प्रयोजन के संबंध में विभिन्न मत प्रकाश में आये हैं जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार है-

1. कला, कला के लिए, 2. कला जीवन के लिए, 3. कला जीवन से पलायन के लिए, 4. कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए, 5. कला सेवा के लिए, 6. कला आत्मानुभूति के लिए, 7. कला आनंद के लिए, 8. कला विनोद के लिए, 9. कला सृजन की अदम्य इच्छा की पूर्ति के लिए।कला, कला के लिए-इस मत के प्रवर्तक एवं समर्थकों में श्री ए.सी. ब्रेड़ले, ऑस्कर वाइल्ड आदि प्रमुख हैं। इनके विचार से कला का या कलाकार का एकमात्र लक्ष्य कला या सौन्दर्य की सृष्टि करना मात्र होता है। अतः कलाकार से नीति या धर्म या उपदेशों अथवा क्रांति के प्रतिपादन की आशा करना व्यर्थ है। कला, जीवन के लिए जीवन का संबंध एक ओर रोटी, भोजन और वस्त्र से है जो कि धन के माध्यम से प्राप्त होती है, तो दूसरी ओर उच्च कोटि के विचारों; भावनाओं और सौंदर्य से है। पाश्चात्य विचारक 'जीवन' शब्द को ही व्यापक मानकर चलते हैं। कला, जीवन से पलायन के लिए जीवन से पलायन का अर्थ है, मृत्यु का आलिंगन करना या जीवन की कठिनाइयों से भागना। जो लोग संसार की विषमताओं और परेशानियों का सामना नहीं कर पाते, वे काव्य-उपवन में शरण लेते हैं या काव्य-रचना में अपने दुःख को भुलाने की कोशिश करते हैं। कला, सेवा के अर्थ में-अस्पतालों में मरीजों को कविता सुनाना, संगीत सुनाना यह कला का सेवा पक्ष है जो सामान्य रूप से प्रायः संभव नहीं हो पाता है। कला, आत्मानुभूति के लिए-कलाकार को आनंद की अनुभूति तो होती है पर उससे भिन्न उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है अन्यता वह अपनी रचना को किसी और के सम्मुख प्रस्तुत न करता।

कला, आनंद के लिए-काव्य और कला का प्रमुख भेद मनोरंजन और आनंद माना जाता है। इसकी आनंददायिनी शक्ति के कारण काव्य को 'ब्रह्मानंद सहोदर' भी कहा गया है। काव्य का आनंद लोकातीत है। कला, विनोद के लिए-जो लोग कला को मनोविनोद के लिए मानते हैं, उनकी बात भी कला आनंद के लिए है इन्हीं से मिलती-जुलती है। क्योंकि आनंद और मनोविनोद का संबंध कलाकार की अपेक्षा पाठक या दर्शक से अधिक है। कला, सृजन की अदम्य इंच्छा पूर्ति के लिए-काव्य और कला के संबंध में तथ्यवादी और दार्शनिक दृष्टिकोण यही है कि जिस प्रकार ईश्वर का सृष्टि का क्या प्रयोजन है; यह बताना कठिन है, उसी प्रकार काव्य रचना की आवश्यकता क्या है, यह बताना कठिन है। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के मत प्रायः एकांगी हैं जिनमें आंशिक सत्य है। वास्तव में सभी कवियों का काव्य प्रयोजन एक जैसा नहीं होता। कुछ सृजन की अदम्य आकांक्षा से प्रेरित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं, तो कुछ यश, धन या मान-मर्यादा की प्राप्ति के लिए, कुछ अपने आराध्य देव या आश्रय-दाता की संतुष्टि के निमित्त तो कुछ अपने मत, विचार या सिद्धान्तों के प्रचार के प्रयोजन से काव्य रचना करते हैं।

1.6 काव्य के प्रकार

संस्कृत आचार्यों से काव्य के वर्गीकरण सम्बन्धी दो प्रकार के विचार हैं। एक तो वे आचार्य हैं जो काव्य का कोई भेद ही नहीं मानते। उन्होंने या तो किसी रचना को काव्य माना नहीं है और यदि माना भी है तो उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं माना-महिम भट्ट रस के आधार पर काव्य को काव्य ही मानते हैं। रस के अभाव में काव्य, काव्य नहीं है और रस का सद्भाव होने पर गौणता का प्रश्न नहीं उठता।

"किच मुख्ये रसात्मक निकाव्ये सम्भवति न तस्यगौणत्यश्रयणं युक्तम्" किन्तु इस प्रकार से सभी काव्यों को एक ही कोटि में रख देने से बड़ी असुविधा हुई, अतः अनेक आचार्यों ने काव्य के भेद किए हैं। ये भेद दो आधारों पर किए हैं-

(2) स्वरूप के आधार पर।

(1) रमणीयता के आधार पर।

1. रमणीयता के आधार पर-काव्य का वर्गीकरण प्राचीनकाल से चला आ रहा है, इस रमणीयता में आचार्यों ने गुण, अलंकार, रोति, ध्वनि, रस आदि को दृष्टि में रखा है- प्रत्येक आचार्य की दृष्टि किसी न किसी काव्यांग पर ही केन्द्रित रही है और उसी आधार पर उसने काव्य का वर्गीकरण किया है, किन्तु इस विभिन्नता में भी समानता यह है कि प्रत्येक ने काव्य की कोटियों प्रायः एक सी ही परिगणित की हैं। अतः सबके मतों को एक ही कोटि में रखा जा सकता है। स्वरूप के आधार पर काव्य का वर्गीकरण यद्यपि है तो अति प्राचीन ही, किन्तु इसे वैधानिकता आधुनिककाल में ही प्राप्त हुई है। यहाँ हम दोनों प्रकार के वर्गीकरणों पर संक्षेप में विचार और उनका उल्लेख करेंगे।

रमणीयता के आधार पर काव्य का वर्गीकरण यहाँ रमणीयता से तात्पर्य अर्थ और शब्द की रमणीयता से है। शब्द की रमणीयता को दृष्टि से काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद किए जा सकते हैं और अर्थ की रमणीयता की दृष्टि से इनके ध्वनि, काव्य गुणीभूत, व्यंग्यकाव्य तथा चित्र-काव्य भेद किये जा सकते हैं। अतः शब्दार्थ की रमणीयता के आधार पर काव्य का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है, क्योंकि काव्य का शरीर शब्द है और अर्थ उसकी आस्वादता का बोधक-

(क) ध्वनि काव्य अथवा उत्तम काव्य। (ख) गुणीभूतव्यंग्य अथवा मध्यम काव्य।

(ग) चित्रकाव्य, अवरकाव्य अथवा अधम काव्य।

(क) ध्वनि काव्य-आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि काव्य को सर्वोत्तम काव्य माना है। जिसमें शब्दों के वाक्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का अधिक चमत्कार होता है- अर्थ कथित न होकर ध्वनित होता है, वही काव्य उत्तम काव्य होता है। इसमें काव्य का प्रत्येक अंग प्रायः ध्वनित होता है, कथित नहीं। इस प्रकार का काव्य सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि काव्य में ध्वनि की प्रधानता ही चमत्कार उत्पन्न करती हैं। (ख) गुणीभूतव्यंग्य काव्य-यह मध्यम कोटि का काव्य होता है। इसमें व्यंग्यार्थ की पूर्ण प्रधानता नहीं होती, व्यंग्यार्थ और वाक्यार्थ या तो समान होते हैं अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होता है। इस प्रकार का काव्य मध्यम कोटि का होता है। (ग) चित्र काव्य-जहां केवल शब्दों का चमत्कार हो, रस की प्रधानता न हो, वह काव्य चित्रकाव्य अथवा अधम काव्य कहलाता है। राजशेखर ने रसहीन काव्य को चित्रकाव्य माना है- चाहे कितना ही सुन्दर वर्णन क्यों न हो, यदि ब्द चमत्कार मात्र है और रस नहीं है तो वह काव्य व्यर्थ है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के केवल दो भेद माने हैं। उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। बँगलाकवि दासगुप्त ने काव्य के केवल दो भेद माने हैं- द्रतिकाव्य और दीप्ति काव्य। ध्यान देने की बात है कि सभी भेद काव्य के शब्दार्थ की रमणीयता की दृष्टि से किये गए हैं। पर इससे वर्गीकरण पूर्ण नहीं होता, इसलिए काव्य का स्वरूप के आधार पर वर्गीकरण किया गया जो पूर्ण समीचीन है।

स्वरूप के आधार पर काव्य का वर्गीकरण

स्वरूप अर्थात आकार-प्रकार के आधार पर काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं-(क) दृश्यकाव्य। (ख) श्रव्यकाव्य (क) दृश्यकाव्य-जिस काव्य में वर्णनीय विषयों का अभिनय आदि के माध्यम से, आँखों द्वारा मंच पर अभिनीत होते देखकर आनन्द लिया जाये, वह काव्य दृश्यकाव्य है। इस विषय में यह विचारणीय है कि दृश्यकाव्य पूर्णरूपेण दृश्यकाव्य नहीं होते- इनको सुनकर और पढ़कर भी आनन्द लिया जा सकता है। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत आने वाली काव्यविधा-नाटक की तकनीक का अब इतना विस्तार हो गया गया है है कि वह श्रवण एवं पठन-दोनों की सामग्री हो गई है। रेडियो नाटक श्रव्य काव्य ही कहे जाएंगे और पुस्तक रूप में प्राप्त नाटक पठन की ही वस्तु है, किन्तु आज नाटक दृश्यकाव्य के लिए रूढ़ हो गया है। इसकी रूढ़ता का कारण यह है कि नाटक में पात्र (प्रदर्शक) अभिनीत चरित्रों का अपने पर आरोप कर लेते हैं। नाटक को संस्कृत में रूपक कहा गया है। इसके दस भेद किये गये हैं- नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईदागृह, अंक, वीथी और प्रहसन।

(ख) श्रव्यकाव्य-जिन काव्यों का आनन्द पढ़ने अथवा सुनने से प्राप्त होता है वे श्रव्यकाव्य होते हैं। श्रव्य मुख्य रूप से अध्ययन की वस्तु होते हैं। इनके भी अनेक आधारों पर अनेक भेद किए जा सकते हैं। शैली के आधार पर-श्रव्यकाव्य के शैली, अर्थात् वर्णन-शैली के आधार पर तीन भेद किये जा सकते हैं- गद्य काव्य, पद्य-काव्य और चम्पू-काव्य।

1. गद्यकाव्य-जिन काव्यों में पद्य का नितान्त अभाव होता है और गद्यात्मक शैली का प्रयोग होता है, अर्थात् जिनमें लय, संगीत और नादात्मक सौन्दर्य नहीं होता वे गद्य काव्य होते हैं। आजकल इन्हें गद्य-काव्य न कहकर मात्र गद्य ही कहा जाता है। इस वर्ग के अन्तर्गत साहित्य की कथा, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, समालोचना, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण आदि विधाएँ हैं। 2. पद्य काव्य-लय, संगीत, नाद, स्वर, अलंकार आदि से युक्त शब्दबद्ध काव्य को पद्यकाव्य कहते हैं। इसकी शैली लयात्मक होती है और छन्द की योजना का इसमें सर्वत्र विधान होता है। पद्य-काव्य के भी प्रबन्ध की दृष्टि से दो भेद किए जा सकते हैं- प्रबन्ध काव्य और मुक्तक-काव्य। (i) प्रबन्ध काव्य-में किसी कथा का वर्णन काफी लम्बा और

धारावाहिक होता है। इसमें प्रत्येक पद व सर्ग परस्पर सम्बन्धित होते हैं और साथ ही कथा में अनेक घात-प्रतिधात एवं आरोह-अवरोह होते हैं। विस्तार की दृष्टि से प्रबन्ध के भी दो भेद होते हैं- क) महाकाव्य और (ख) खण्डकाव्य। (

(क) महाकाव्य-इसमें किसी विशेष चरित्र का सर्वांगीण, विस्तृत तथा व्यापक वर्णन होता है। इसमें आकार की दीर्घता के साथ-साथ विषय में विविधता तथा सम्बद्धता भी होती है। अनेक सर्गों, उपसर्गों में विभक्त महाकाव्य जीवन का सुन्दर एवं पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। तुलसी का 'श्रीरामचरितमानस', जायसी का 'पद्मावत', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' आदि महाकाव्यों की श्रेणी में ही आते हैं। (ख) खण्डकाव्य-इसमें जीवन के किसी एक खण्ड अथवा विचार का ही वर्णन होता है। किसी घटना विशेष का वर्णन होने के कारण इसमें न तो महाकाव्य जैसी आकारदीर्घता होती है, न घटनाओं का बाहुल्य ही और न विषय की व्यापकता ही। यह अपने सीमित परिवेश में ही किसी घटना अथवा उद्देश्य का सरल शैली में वर्णन करता है। 'जयद्रथ-वध', 'पथिक', 'भोजराज', 'मौर्य विजय' आदि खण्डकाव्य हैं।

(ii) मुक्तक काव्य-इसमें प्रबन्ध काव्य की भाँति न तो कोई कथा ही होती है और न ही उसका कोई प्रवाहवत् वर्णन होता है उसके पद परम्परा सम्बद्ध भी नहीं होते। यह तो रस का एक गुलदस्ता होता है, जिसका प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण होता है, जो स्वयं ही भीनी-भीनी सुगन्ध देता है। सूरदास का 'सूरसागर', बिहारी की 'बिहारी-सतसई' आदि मुक्तक

काव्य के उदाहरण हैं। विषय की दृष्टि से मुक्तक के दो भेद होते हैं- रसमय मुक्तक और सूक्तिमय मुक्तक। रसमय मुक्तक-वे होते हैं, जिनमें भाव तथा रस का अनुभूति के माध्यम से वर्णन होता है। इसमें श्रोता अथवा पाठक पूर्णतः निमग्न हो जाता है। बिहारी-सतसई इसका अन्यतम उदाहरण है। तुलसी की 'गीतावली' और 'कवितावली' को भी इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सेनापति के सवैये भी रसमय मुक्तक ही हैं। सूक्तिमय मुक्तक-वे होते हैं, जिनमें कोई नीति व उपदेश कथन होता है, ज्ञान होता है अथवा सांसारिक अनुभवों का वर्णन होता है। रहीम के दोहे, गिरधर की कुण्डलियाँ, तुलसीदास की दोहावली और कबीरदास की साखियाँ इस प्रकार के मुक्तक ही हैं।

3. चम्पू काव्य-गद्य और पद्य के मिश्रित रूप को चम्पू-काव्य कहा जाता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' इसी प्रकार का काव्य है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने काव्य को विषयगत (objective) और विषयीगत (subjective) के रूप में वर्गीकृत किया है। विषयगत में कवि या कलाकार की दृष्टि बहिर्मुखी होती है, वह समाज की दृष्टि से काव्य की सर्जना करता है और विषयीगत में उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती है, वह स्वयं की अनुभूति पर ही विशेष ध्यान रखता है- कवि के व्यक्तित्व का ही इसमें प्राधान्य होता है। यद्यपि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों का यह विभाजन मनोवैज्ञानिक आधार पर है, पर कोई भी काव्य ऐसा नहीं है, जिसमें कवि की सम्भावनाओं का प्रकाशन न हो अथवा समाज के प्रति दृष्टि न हो। तात्पर्य यह है कि कवि अपनी भावनाओं के माध्यम से ही काव्य का समाज हित में वर्णन करता है। अतः यह वर्गीकरण भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। समग्रतः स्वरूप के आधार पर किया गया काव्य-वर्गीकरण ही वैज्ञानिक एवं पूर्ण है और वही आजकल प्रचलित है।

रस सिद्धांत : स्वरूप, रस-निष्पत्ति, रस के अंग, साधारणीकरण, सहद्य की अवधारणा

1.7 हिन्दी में रस-विचार का प्रवर्तन

हिन्दी में रस-विचार का प्रवर्तन संस्कृत के आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' भानुदत्त • की 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिनी' भोज के 'श्रृंगार प्रकाश' एवं विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' के आधार पर हुआ। वस्तुतः रीति-ग्रन्थों की रचना या तो दरबारी वातावरण फारसी कविता से टक्कर लेने के लिए तथा उदाहरण ढूंढने के लिए हुई या ज्ञान प्रदर्शन अथवा अल्पज्ञों को शिक्षा देने के लिए हुई। रीतिकाल में रचित ग्रन्थों में रस का विचार या तो रस विषयक ग्रन्थों में अथवा रस तथा ध्वनि का एकत्र विचार करने वाले ग्रन्थों में अथवा समस्त काव्यशास्त्र के विवेचक ग्रन्थों में हुआ। सब प्रकार के ग्रन्थों में मुख्यतः श्रृंगार रस का ही वर्णन हुआ है। इन ग्रन्थों में उदाहरण तो ललित प्रस्तुत किए गए हैं किन्तु विवेचन का कोई प्रयत्न संस्कृत के पूर्व तथा उत्तरपक्ष के समान नहीं दिखता। रीतिकाल में केशव ने भोज द्वारा कथिक अनुराग के प्रकाश तथा प्रच्छन्न नामक दो भेदों के अनेक प्रसंगों पर घटित करने की असफल चेष्टा की और इसी प्रकार श्रृंगार के अन्तर्गत अन्य रसों के अन्तर्भाव का उनका प्रयत्न भी निष्फल रहा। देव ने भानुदत्त के समान रस के लौकिक, अलौकिक तथा उनके भी श्रृंगारादि नौ रस एवं स्वाभाविक, मनोरथिक तथा औपनयिक भेद किए। उजियारे कवि ने प्रश्नोत्तर

शैली अपनाकर केवल नौ रसों की प्रतिष्ठा की है और उन्हीं के अन्तर्गत वात्सल्य, भक्ति तथा कर्त्तव्य आदि को मान लिया है। रीतिकाल में रसपरक नवीन चिन्तन की दृष्टि से रामसिंह का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने 'रस-निवास' ग्रन्थ में मनोविकार तथा भाव का अन्तर बताते हुए भानुदत्त नुदत्त के अनुकरण पर रसानुकूल मानोविकार मात्र को ही भाव माना है। हास्य रस का स्थायी हास के स्थान पर 'हसता' माना है और नाट्यशास्त्र के अनुकूल स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ दो भेद किये हैं। ग्वाल कवि ने नवीनता के नाम पर श्रृंगारादि नौ रसों को औपनयिक का भेद बताया है। इनकी एक अन्य नवीनता यह है कि इन्होंने प्रत्येक के आठ-आठ सात्विक माने हैं, जो तर्कसंगत और व्यावहारिक नहीं हैं। वस्तुतः हिन्दी रीतिकाल में नवीनता-प्रदर्शन की चेष्टा तो रही किन्तु उसमें सूक्ष्म चिन्तन तथा गहन विवेचन के अभाव के कारण किसी प्रकार की तत्वपरक उपलब्धि न हो सकी। आधुनिक काल में भारतेन्दु का नाम दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आनन्द रसों की अवतारणा की दृष्टि से उल्लेख्य है। हरिऔध ने वात्सल्य रस का प्रबल समर्थन किया तथा श्रृंगारादि रसों के उदाहरण के साथ रस का विशद निरूपण करने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथ प्रसाद भानु, रामदहिन मिश्र तथा गुलाबराय आदि के रस विवेचन-परक ग्रन्थों के प्रकाशन से संस्कृत पद्धति का पुनरुत्थान हुआ। हिन्दी के पुराने लेखकों व संस्कृत लेखकों के विचारों की तुलना भी हुई, किन्तु निष्पत्ति और साधारणीकरण अथवा नवीन रसों की उद्भावना और रसाभाव पर विशद और विस्तृत विचार न हुआ। इस काम को डॉ. गुलाबराय ने "सिद्धान्त और अध्ययन" ग्रन्थ में एक सीमा तक पूरा किया। आधुनिक काल में वास्तविक महत्व के अधिकारी रामचन्द्र शुक्ल हैं जिन्होंने रस का न केवल मनोविज्ञान के प्रकाश में वेचन किया अपितु आधुनिक विदेशी काव्य की परिस्थितियों के विचार से भी रस भारतीय स्वरूप की स्थापना की। साधारणीकरण के प्रश्न पर आपने विदेशी और देशी अध्ययन के आधार पर मौलिक चिन्तन की धारा का सूत्रपात किया। रस और रसानुभूति के स्वरूप, उसके प्रकार और कोटियों पर उनके विचार उल्लेखनीय हैं। रस की ऐसी स्थापना दीर्घकाल के पश्चात् हुई। इनके पश्चात् इधर पुनः इस अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत हुई, जो नगेन्द्र जी आदि विद्वानों के शोध प्रबन्धों के रूप में प्रकट हो रही है। इन प्रबन्धों में यूरोपीय अध्ययन के साथ भारतीय चिन्तनधारा के सम्यक् सन्तुलन की चेष्टा की जा रही है और आधुनिक काव्य में रस का महत्व परखा जा रहा है। ार के नवीन विचारकों इस प्रकार में डॉ. छैल बिहारी गुप्त, 'राकेश', डॉ. वी. राघवन, डॉ. रघुवंश तथा डॉ. आनन्द दीक्षित का

नाम विशेष उल्लेखनीय है।

'रस' शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार 'रस' शब्द के दो अर्थ होते हैं- (1) आस्वाद, "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।" तथा (2) "दृवत्व सरसे इति रसः।" साधारण रूप में इसके अनेक भिन्नार्थक प्रयोग हुए हैं, जैसे-षडरस, इन्द्रिय सुख, दूध, शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शादि गुणों में से एक आनन्द। आयुर्वेद में रसायन, पारद, वीर्य, जल, अथवा जलीय पदार्थ तथा रसनाग्राह्य पदार्थ के लिए इसका प्रयोग हुआ है। वेदों में सोमरस वनस्पतियों का द्रव, दूध, जल, स्वाद और गन्ध के लिए, रामायण में जीवन रस पेय तथा विष के लिए और महाभारत में जल, सुरा, गन्ध, काम एवं स्नेह के लिए इसका प्रयोग हुआ है। साहित्यशास्त्र इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र अथवा काव्यानन्द के लिए हुआ है। इस प्रकार का अर्थ आनन्द की अनुभूति है। दूसरे अर्थ के अनुसार समाधि-साधन आदि द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्द अथवा मोक्ष रूप रस कहलाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस का अर्थ काव्य की अनुभूति माना गया है। सर्वप्रथम नाट्य के सम्बन्ध में इसका उल्लेख किया गया था। रस के अंगों के सम्बन्ध में अधिक मतभेद नहीं है। भरतमुनि ने रस निष्पत्ति से सम्बन्धित अपने सूत्र विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग के रस की निष्पत्ति स्वीकार की है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सहृदय में स्थित रति आदि स्थाई भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का सहयोग प्राप्त करके रस रूप में परिणित हो जाते हैं-

रस के अंग विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा। रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ।।

स्पष्ट ही रस की अभिव्यक्ति अथवा प्रतीति के चार साधन है-भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव। ये ही रस के अंग हैं। इनका विवेचन क्रमशः आगे किया जा रहा है। स्थायी भाव-संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव शब्द का अर्थ मनोविज्ञान के व्यापक अर्थ से भिन्न तथा परिष्कृत तथा चित्तवृत्ति रूप भाव है। चित्तवृत्ति के आधार पर भाव के दो भेद हैं स्थाई भाव तथा संचारी भाव। सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना या संस्कार रूप में हमेशा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई दवा नहीं सकता है, उन्हें स्थाई भाव कहा जाता है। स्थायी भावों की अनेक विशेषताएँ होती हैं। स्थायी भाव रस का मूल है। ये चिरकाल तक अंचल होकर हृदय में निवास करते हैं। इनमें जो स्थिरता होती है, वह दूसरे

भावों में नहीं होती। स्थायी भाव मानव-चित्त की भावना अथवा संस्कार हैं। ये सभी मनुष्यों में पाये जाते हैं। कोई विरोधी अथवा अविरोधी भाव स्थायी भावों का विनाश नहीं कर सकता है। स्थायी भावों में इतनी अधिक शक्ति होती है कि ये अन्य भावों को भी अपने में समेट लेते हैं। इनकी संख्या ग्यारह है-रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुत्सा, विस्मय, निर्वेद, वात्सल्य और ईश्वर विषयक प्रेम।

विभाव-विभाव का अर्थ है कारण। अर्थात् सहृदय के चित्त में रति आदि भावों के लोक में उद्बोधक कारण ही विभाव कहे जाते हैं। ये स्थाई भावों का विभाजन करते हैं और उन्हें आस्वाद योग्य बनाते हैं। इसी कारण विभाव रस की उत्पत्ति के कारणभूत हैं। आचार्य विश्वनाथ ने विभावों की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "लोक या संसार में रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों को जो जागृत करने वाले होते हैं, वे ही काव्य में वर्णित होकर विभाव कहलाते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं (क) आलम्बन विभाव और (ख) उद्दीपन विभाव। (क) आलंबन विभाव-भावों की उत्पत्ति यद्यपि आश्रय में होती है किन्तु उसका सम्बन्ध किसी न किसी बाह्य वस्तु से होता है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए सुन्दर उपवन में किसी सुन्दर स्त्री को देखकर हमारे मन में उसे प्राप्त करने की भावना पैदा हो तो वह सुन्दर स्त्री आलम्बन विभाव कहलायेगी और जो उसे प्राप्त करना चाहेगा वह आश्रय विभाव कहलायेगा। इस प्रकार आलम्बन विभाव के विषय और आश्रय दो भेद हो सकते हैं। जिस पात्र में भाव उत्पन्न हो वह आश्रय और जिसे देखकर उत्पन्न हो वह आलम्बन कहलाता है।

(ख) उद्दीपन विभाव-स्थायी भावों को जागृत करने में सहायक कारण उद्दीपन कहलाते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जो रस को उद्दीप्त करते हैं अर्थात् रति आदि भावों को उद्दीप्त करके आस्वादन योग्य बनाते हुए रस की अवस्था तक पहुँचाते हैं वे उद्दीप्त विभाव कहलाते हैं। जिस प्रकार वीर रस की स्थायी भाव उत्साह के लिए सामने खड़ा हुआ शत्रु आलम्बन विभाव है, परन्तु शत्रु के साथ सेना, युद्ध के बाजे, शत्रु की दुंक्तियाँ, गर्जन- तर्जन तथा शस्त्र संचालन उद्दीपन विभाव है। एक प्रकार से उद्दीपन विभाव वे परिस्थितियाँ होती हैं, जिनसे भाव उद्दीप्त होता है। जिस प्रकार किसी सुन्दर उपवन में जहाँ अनेक आकर्षक और सुगन्धित पु' खिले हुए हों तो वहाँ का यह वातावरण उद्दीपन कहलायेगा। उसी वातावरण से उद्दीप्त होकर नष्पत्ति की प्रक्रिया में योग देगा, इसमें सन्देह नहीं है।

अनुभाव अनुभाव शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं। पहली तो भाव के पश्चात् उत्पन्न भाव अनुभाव कहलाते हैं और दूसरे अनुपश्चात् भावयन्तीति अनुभाव। अपने-अपने कारणों से उत्पन्न निर आदि स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले अर्थात् बाह्यरूप देने वाले भाव अनुभाव कहलाते हैं। वस्तुतः संसार में जिसे कार्य कहते हैं उसे ही काव्य नाटक में अनुभाव की संज्ञा प्राप्त है। सरल शब्दों में रति, शोक हास आदि स्थाई भावों को व्यक्त करने वाली आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि आलम्बन, उद्दीपन अपने-अपने कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले लोक में जो कार्यरूप चेष्टाएँ होती हैं वे ही काव्य नाटक आदि में वर्णित होकर अनुभाव कहलाती हैं। विरह में व्याकुल होकर सिसकियाँ भरना, मिलन के भावावेश में अश्रु, स्वेद, रोमांच, अनुराग सहित देखना तथा क्रोध में कठोर वाणी, आँखों का लाल होना तथा दाँत पीसना आदि अनुभाव कहे जाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं-आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आश्रय जो शारीरिक चेष्टाएँ करता हैं वे आंगिक अनुभाव हैं जो वाणी से बोलता है, वे वाचिक अनुभाव हैं। आरोपित या कृत्रिम वेष रचना को आहार्य अनुभाव कहा जाता है। स्थायी भाव के जागृत होने पर स्वाभाविक, अकृत्रिम, अयत्नज अंगविकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं। संचारी भाव-जो भाव हमारे हृदय में नित्य विद्यमान रहते हैं वे तो स्थायी भाव कहे जाते हैं, किन्तु कुछ भाव ऐसे होते हैं जो थोड़ी देर के लिए हमारे मन में आकर हलचल मचा देते हैं। यद्यपि ये स्थायी भाव को पुष्ट करने में सहायता देते हैं और तुरन्त ही समाप्त हो जाते हैं, किन्तु इनकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। संचारी शब्द का अर्थ है साथ-साथ चलने वाले अर्थात् संचरणशील भाव। स्थायी भावों के साथ संचरित होने के कारण ही इन्हें संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहा गया है। एक ही संचारी भाव अनेक स्थायी भावों के साथ चल सकता है। यह प्रक्रिया व्याभिचारी को स्पष्ट करती है। इसी कारण इन्हें कुछ लोग व्याभिचारी भी कहते हैं। भारतीय परम्परा के रसवादी आचार्यों ने संचारी भावों की संख्या 33 मानी है। उनके नाम इस प्रकार हैं-निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। आजकल रसों की संख्या भी नौ से अधिक मान ली गई है। ऐसी स्थिति में संचारी भावों की संख्या भी बढ़ गयी है। मनोविज्ञान के अनुसार मनोविकारों की गणना करना असम्भव प्रतीत होता है। डॉ. भगवानदास ने मनोविज्ञान का सहारा लेकर 64 मनोविकारों की गणना की है। काव्यशास्त्र में अनेक नये भावों की स्वीकृति तथा अन्तर्भाव

के प्रयत्न भी उपलब्ध होते हैं। मन में जो भाव उठते हैं उसको नाम देना बड़ा मुश्किल है। अतः संचारियों की संख्या मात्र एक काम चलाऊ संख्या है। डॉ. नगेन्द्र का मत-डॉ. नगेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान के स्थूल सिद्धान्तों के आधार पर आधुनिक विद्वानों द्वारा विवेचित 33 संचारियों की स्थिति का उल्लेख इस प्रकार किया है। उन्हने कहा है कि केवल 14 भाव या मनोविकार हैं-निवेंद, शंका, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूगा, अमर्ष, गर्व, क्रीड़ा, आवेग, विषाद तथा औत्सुक्य, उनके अनुसार चार ज्ञानात्मक अनुभव मात्र हैं। इनमें धति, मति, वितर्क और अतिहित्या मात्र हैं। पाँच शारीरिक संवेदन हैं- ग्लानि, श्रम, आलस्य, मद और मोह। उन्होंने बताया है कि संचारी भाव अपने स्वभाव के अनुसार नित्य प्रति संचरण करते रहते हैं। दस मानसिक अनुभव बताते हुए डॉ. नगेन्द्र ने उनके ये नाम बताये हैं-स्मृति, स्वप्न, निद्रा, विबोध, जड़ता, चपलता, अपस्मार, व्याधि, उन्माद और मरण। स्पष्ट है कि रसावयव चार हैं और उनके सहयोग से ही रसानुभूति होती है। सामान्यतः रस की अनुभूति के सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं है। यह निश्चित रूप से सुखात्मक होती है। उसका सुखात्मक होना ही इस बात का प्रमाण है कि रस आनन्दमय है। रस के ब्रह्मानन्दसहोदरत्व की कल्पना से यह भलीभाँति प्रतिपादित हो जाता है एक ओर यह लोक विलक्षण है और दूसरी ओर ब्रह्मानन्द विलक्षण भी है। रस के आनन्द रूप का रहस्य भी यही स्पष्ट होता है। डॉ. आनन्दप्रसाद दीक्षित ने उचित ही लिखा है कि वस्तुतः इसकी कल्पना उपनिषद् के 'रसो वै सः रसं हयौवायं लब्ध्वा नन्दी भवतिः' से आरम्भ हो जाती है। भारतीय आचार्यों ने अधिकांश रस के इसी स्वरूप का वर्णन करते हैं यहाँ तक कहा कि काव्य का मौलिभूत प्रयोजन भी मम्मट तो आनन्द को ही मानते हैं। ब्रह्मानन्द से इस रस की भिन्नता का कारण यही है कि ब्रह्म अव्यक्त और कूटस्थ होने के कारण वाचामगोचर है, मात्र अनुभूतिगम्य है, किन्तु रस अनुभूतिगम्य होकर भी व्यक्त है-विभावादि पर आश्रित है। काव्य में स्थूलता, शब्दादि का सहयोग जा ही नहीं सकता। यह अभेध में भी भेद की स्थिति सा है, अतएव ब्रह्मानन्द सदृश मात्र है वही नहीं है। इसी ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की व्याख्या प्रायः दर्शन की भूमिका पर ही की जाती है। अभिनवगुप्त तथा पण्डितराज ने इसे शैव एवं शंकर वेदान्त के आधार पर प्रस्तुत किया है; तो हिन्दी में श्री केशवप्रसाद मिश्र इसे योग की मधुमती भूमिका के माध्यम से समझाते हैं और उनकी युक्तियों का प्रदर्शन करते हुए चन्द्रबली पाण्डेय उसे योग की विशेष स्थिति से तुलनीय मानते हैं। रस को पूरी तरह आनन्द का पर्याय नहीं मान सकते हैं क्योंकि रस की अनुभूति न केवल सुखात्मक होती है, अपितु अनेक बार दुःखात्मक भी होती है। अतः वह उभयात्मक है। अनेक आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से विचार किया है। वस्तुतः रस आस्वाद रूप है। प्राचीन आचार्यों ने रस को आनन्द रूप मानकर करुणादि दुःखात्मक भावों की अनुभूति (करुण रसानुभूति) भी आनन्द में स्वीकार की है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि दो-तीन आचार्यों ने रस को सुख दुःख, उभयात्मक मानकर कहा है कि "इष्ट विभावादि द्वारा" प्रकाशित होने के कारण श्रृंगार, हास्य, वीर अद्भुत और शान्त ये पाँच सुख प्रधान रस है और अनिष्ट विभावादि द्वारा प्रकट होने वाले करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं। इन आचार्यों का मत है कि पिछले चार दुःखात्मक रसों में सामाजिक का हृदय कुछ अवर्ण सी क्लेश दशा को प्राप्त होता है, हृदय में उद्वेग सा होता है। इसी परम्परा में आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'रस मीमांसा' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि- "क्या क्रोध, शोक, जुगुत्सा, भय आदि आनन्द का रूप धारण करके हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते ? क्या 'विभावत्वै' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप दे देते हैं? क्या सुख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैय्या से राजा हरिशचन्द्र का कफन माँगना देख सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दांत निकल पड़ते हैं?.....क्या कोई दुखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दमय है ?" "विश्वनाथ आदि जिन प्राचीन आचार्यों ने कहा कि शोक के आँसू करुण रसानुभूति में सुख के आँसु होते हैं। शुक्ल जी ने उनका भी विरोध किया है। निःसन्देह करुणा के आँसुओं को सुख के आँसू मानना भ्रांति है। वस्तुतः वे आँसू तो शोक के ही होते हैं, पर भावना से सम्बन्ध होने के कारण यह शोक और उसके आँसू दोनों उदात्त स्पृहणीय होते हैं, हम बार-बार इस तरह रोना चाहते हैं। इसी प्रकार क्रोध, भय और घृणा की अनुभूति में भी क्रोधादि भाव दुःन त्यक ही होते हैं, पर वह दुःख सामान्य लौकिक दुःख से भिन्न उदात दुख होता है और हमे ही लगता है, हम चाहकर उसे अपनाते हैं। अतः काव्य रस की अनुभूति होती तो ओनवार्यतः आनन्दमय ही है, पर करण विप्रलम्म, करुण, भयानक बीमातर और रौद्र रसों को अनुभूति में इस आनन्द में स्पृहणीय दुःख की छाया भी लगी रहती है।" मुल्यांकन-समय विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि रस की अनुभूति अनिवार्य रूप से तो आनन्दमय ही होती है, किन्तु कुछ रस ऐसे भी होते हैं जिनकी अनुभूति हमें दुखातमक बताकरण में ले जाती है। ऐसे रसों में करुण, विमलम्म भयानक बीभत्स और रौद्र रसों का नाम लिया जा सकता है। याद्यापि कुछ पाश्चात्य समीक्षकों ने यह भी माना है कि करुण रस से जो आस्वाद मिलता है। वह भी आनन्दमय होता है। अरस्तू आदि विचारकों ने इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है। जहाँ तक रस के अवयवों का प्रश्न है वे निश्चित रूप से चार हैं-विभाव, अनुभाव,

संचालों और स्थायी भाव। इन चार अंगों की उपर्युक्त व्याख्या यह प्रमाणित करती है कि रस की निष्पति इन्हीं के सहयोग से होती है। विभाव, अनुभाव संचारी एवं स्थायी भाव की समन्वित योजना से ही काव्य में रस की प्रतीति होती है। प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है और यह स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारियों के सहयोग से निष्पत्ति कराता है।

निष्कर्ष-निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि संस्कृत के रसशास्त्र की दृष्टि में काव्यरास्वाद (रस) इत्रभावों और जानों से विनिर्मुक्त देशकाल की सीमाओं से अनिर्बद्ध व्यक्तिनत मोह- किएगा एवं स्व, पर की भावना से रहित प्रमाता की सत्योद्रिक्त मनःस्थिति से अनुभूयमान, रहित भोगास्वाद से भिन्न, ब्रह्मास्वाद के समान सूक्ष्म परिष्कृत स्वतः प्रकाशित आनन्दनयी आत्मनुभूति है।

रस के स्वरूप

भारत मुनि का नाट्यशास्त्र पहली रचना है, जिसमें रस का स्वरूप बताया गया है। भरता ने विभाग अनुभव और संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति मानते हुए तथा इन तीनों अंगों के मेदादि का वर्णन करते हुए स्थायी भावों का पृथक रूप से नाम लिया है। उक्त सूत्र की विद्वानों द्वारा की गई विस्तृत व्याख्याओं में से अभिनवगुप्त की व्याख्या के आधार पर मम्मट ने रस के स्वरूप का विश्लेषण इस प्रकार किया है- आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचाती भावों से परिपुष्ट तथा अनुभवों द्वाना व्यक्त हृदय का स्थायीभाव ही रस दशा को प्राप्त होता है। काव्य पढ़ने, सुनने या अभिनय देखने पर विभावादि के संयोग से निभान्न होने वाली आनन्दद्यात्मक चित्तवृति ही रस है। उदाहरणार्थ, पुमवाटिका में राम घूम रहे हैं। एक ओर से मैथिली आ जाती है, स्थल नितान्त एकान्त है. प्रातःकाल का सुखद समीर शरीर और मन की उत्साहित कर रहा है. पुष्पों की छटा मन को मोहित कर रही है। ऐसी दशा में राम सीता को देखकर मोहित हो जाते हैं और उनकी ओर व्आकार्षित होते हैं। उन्हें रोमांच हो आता है वे कटाक्षात् करते हैं, बार-बार रुक-रुककर देखते हैं, उनकी ओर बढ़ने की चेष्टा करते हैं। उनके द्वारा हर्ष, लज्जा आदि का प्रकारामान होता है। इस दृश्य को देख पढ़ वा सुनकर सहृदय के हृदय में बास्ना रूप से स्थित रति नामक स्थायी भाव जामत होकर इस सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है कि वह देशकाल ज्ञान भूलकर उसी घटना में तन्सर हो जाता है। इस प्रकार सीता आलम्बन-विश्व एकान्त तथा वाटिका का मनोरम दृश्य उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि अक्रया अनुभाव एवं लज्जा तथा हर्ष आदि व्यभिचारी भाव के संयोग के गति नामक स्थळी भात्र जिस आनन्दमयी तन्मयावस्था को उपस्थित करता है, वही रस है। सहृदयगत यह रस केवल उस समय तक विद्यमान रहता है, जब तक कि विभावादि विद्यमान रहते हैं, इसीलिए उसे 'विभावादि जीविताबाधि' कहा गया है। विभावादि में से किसी एक के भी न रहने पर उस समय तक रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती, जब तक वर्णन या दृश्य के किसी संकेत से अभाव का आक्षेप न कर लिया जाए। इसी अनिवार्य संयोग के कारण भरत मुनि ने रस की तुलना पानक रस से की है, अर्थात् जिस प्रकार गुड़, मिर्ची, खटाई, नमक आदि आनुपातिक परिणाम में मिलाकर पाने पर वह एक विलक्षण प्रकार का स्वाद देता है, और इनमें से पृथक् पृथक् रूप में केवल किसी एक का स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार काव्य रस भी एक प्रकार की विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अनुभूति है जो लोक व्यवहार से भिन्न है और केवल आनन्द देती है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है। "आस्वाद्या त्वात् रसः ।" इसीलिए इसकी अनुभूति को रसास्वाद, रस चर्वणा आदि कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है-

"संत्वोद्रेकादखण्डः स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः ।
वेद्यान्तर - स्पर्श शून्यः ब्रह्मस्वाद सहोदरः ।
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रभातृ भिः ।
स्वाकारवद भिन्नत्वे नायमा स्वाद्यते रसः।"

अर्थात् रस का हेतु सत्त्वोद्रेक है और कुछ प्रमाता लोग अपने आकार की अभिन्नता से उस रस का आस्वादन करते हैं। वह रस अखण्ड, स्व-प्रकाशानन्द चिन्मय, इतर ज्ञान से शून्य, ब्रह्मानन्द का सगा भाई और लोकोत्तर चमत्कार युक्त होता है।

रस की विशेषताएँ

विश्वनाथ के इस कथन से रस की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं-

1. रस सत्वगुण के उद्रेक (आधिक्य) से प्रकट होता है- रजोगुण और तमोगुण से अस्पष्ट अन्तःकरण को सत्व कहा गया है। सामान्य शब्दावली में यह सांसारिक राग-द्वेष से मुक्त चित्र की वैशद्य की स्थिति है और इस स्थिति में ही रस का आस्वादन होता है। 2. रस प्रमाता द्वारा ही आस्वाद्य है- केवल सहृदय सामाजिक ही काव्य नाट्य के श्रवण-दर्शन से रसानुभूति कर सकते हैं, सर्वसाधारण (वासना शून्य) नहीं। 3. रस अखण्ड है-रस में एक तो विभावानुभावादि की अलग-अलग प्रतीति नहीं होती, दूसरे रस की अनुभूति में परिणाम का भेद नहीं होता। 4. रसानुभूति वेद्यान्तर स्पर्श शून्य होती है- रसानुभूति अन्य ज्ञान से अर्थात् देशकाल एवं स्व-पर तटस्व की भावना से रहित होती है। 5. रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय होता है-रस में संवेद और संवेग दोनों की स्थित पर्याय में रहती है। विभावों के कारण संवेद (ज्ञान) और संचारी, अनुभाव तथा स्थायी भाव के कारण संवेग की स्थिति रहती है। 6. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है- रस से उत्पन्न होने वाला आनन्द ब्राह्य इन्द्रिय गत अनुकूल संवेदनाजन्य आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

7. रस ब्रह्मस्वाद सहोदर है- रसानुभूति विषयानन्द से भिन्न है क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं, चैतन्य आत्मा का विषय है तथापि ब्रह्मानन्द और काव्य रस में अन्तर है प्रथम स्थायी है और द्वितीय अस्थायी। इसके अतिरिक्त रस में लौकिक विषयों का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता।

8. रस आस्वाद्य पदार्थ है- विश्वनाथ के अनुसार रस चखा जाता है। अभिनवगुप्त की कल्पना है कि रस स्वयं अस्वाद है, आस्वाद्य नहीं। परवर्ती आचार्यों ने इसी मत का अनुसरण किया है व्यवहार में रस का आस्वादन किया जाता है ऐसा प्रयोग प्रचलित है।

9. रसास्वाद में सहृदय की तन्मयता होती है- रसानुभूति के समय जानी हुई या जानने योग्य सभी प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान विलीन हो जाता है और इतनी तन्मयता आ जाती है कि प्रमाता की आत्मसत्ता भी रसमय प्रतीत होती है।

रस भेद वर्णन

रस आस्वादरूप में एक होने पर भी उपाधिभेद से मुख्यतः आठ प्रकार का है-श्रृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत। इन आठ रसों की कल्पना दृश्य काव्य के प्रसंग में हो गई थी। बाद में शान्त को जोड़कर रसभेदों की संख्या नौ स्वीकृत हुई। निर्वेद स्थायी मूलक की नाटक में प्रयोगार्दता विवादास्पद रही। अभिनवगुप्त द्वारा प्रबल समर्थन मिलने पर भी नाट्य में इसे निर्विवाद मान्यता नहीं मिली। कुछ समय के उपरान्त वात्सल्य और भक्ति रस की प्रतिष्ठा के भी प्रयत्न हुए। इन तीन रसों-शान्त, वात्सल्य और भक्ति को तो किसी न किसी रूप में मान्यता मिल गयी परन्तु लौल्य, मृग्य, अक्ष, व्यसन, दुःख, उदात्त, उद्धृत, पारवश्य, कार्यन्ग तथा ब्रीडनक आदि अन्यान्य भाव रस रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर सके। संस्कृत काव्यशास्त्र में जहाँ रसों के विस्तार के प्रयत्न के दर्शन होते है, वहाँ समाहार की चेष्टा भी मिलती है। श्रृंगार, करुण, अद्भुत शान्त तथा भक्ति को एक मात्र रस मानने तथा अन्य रसों के उस रस विशेष के अन्तर्भाव करने के प्रयत्न उपलब्ध अवश्य है परन्तु इस विस्तार और परिहार अथवा समाहार के प्रयत्नों को आदर प्राप्त नहीं हुआ।

रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरतमुनि माने जाते हैं, यद्यपि काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने इनसे भी पूर्व आचार्य नन्दिकेश्वर को माना है, तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाण के अभाव में उनकी यह मान्यता अधिक प्रचलित नहीं हो सकी। नाट्यशास्त्र की रचना करते हुए भरत ने स्पष्ट कह दिया था कि रस के बिना किसी भी अर्थ का आविर्भूत होना सम्भव नहीं है-

"नहिं रसादुते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।" इस मान्यता को लेकर परवर्ती अनेक आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। अग्निपुराणकार ने वाग्वैदग्ध का प्राधान्य स्वीकार करते हुए भी रस को ही काव्य-आत्मा माना- "वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने पूर्ववर्ती रस सम्प्रदाय के आचार्यों की भांति शब्दार्थ को काव्य का शरीर माना और रस को आत्मा-

" मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में यद्यपि रस का नाम नहीं लिया है, किन्तु काव्य की अदोषता, सगुणता और अनलंकारता में रस का ही समर्थन है। आचार्य विश्वनाथ ने तो स्पष्टतः ही रसात्मक वाक्य को काव्य माना-

शब्दार्थौ ते शरीरं रस आत्मा।"

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।"

संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया उनके काव्य-लक्षण में 'रमणीयार्थ' रस की महत्ता की स्वीकृति के अतिरिक्त कुछ नहीं है- "रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।" रीतिकाल में भी अधिकांश आचार्यों और कवियों ने इसी सम्प्रदाय को मान्यता दी; अर्थात् रस को काव्य की आत्मा माना। महाकवि देव ने रस को काव्यानुसार बताया- "काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार।" श्रीपति ने आचार्य मम्मट की परिभाषा को दोहराते हुए स्पष्टतः रस की महत्ता स्वीकार की- "यद्यपि तोष बिनु गुन सहित अलंकार सो हीन। कविता बनिता छवि नहीं रस बिन तदपि प्रवीन ।।" आधुनिक काल में भी इसी सम्प्रदाय की मान्यता रही है। भारतेन्दु-युग के प्रवर्तक भारतेन्दु ने कहा कि काव्य रस के कारण ही ग्राह्य और पठनीय है-"बामैं कछु रस होत है, पढ़त ताहि सब कोय। बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय ।।" द्विवेदी-युग के जन्मदाता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी रस को ही कविता का प्राण माना- 'रस ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि हैं, उसकी कविता में रस अवश्य होता है। नीरस कविता-कविता ही नहीं।

रस निष्पत्ति

रस का विवेचन रस-निष्पत्ति से आरम्भ होता है। जब विभावादि रसांगों से जाग्रत और पुष्ट होकर स्थायी भाव रस-रूप में प्रकट होते हैं, तब सहृदयों को आनन्द प्रदान करते हैं। यह रस-रूप में स्थायी भागों का जाग्रत होना ही रस-निष्पत्ति है, अतः रस-निष्पत्ति काव्य- शास्त्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। रस का आरम्भ ही रस-निष्पत्ति होता है। रस प्रक्रिया का मूल रस-निष्पत्ति है। इसका आरम्भ भरत-मुनि के निम्न सूत्र से होता है-

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' दो शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ अस्पष्ट है। बाद के आचार्यों ने इन्हीं दो शब्दों की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। स्वयं भरतमुनि ने इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की है। उनकी पहली व्याख्या तो रस के उपनिबन्ध सम्बन्धी है और दूसरी रस के आस्वाद से सम्बन्धित है। नाट्य प्रयोक्ताओं की विभावादि का संयोजन करके नाटक में विभिन्न रसों का उपनिबन्ध करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जैसे नाना प्रकार के व्यंजनों और औषधों तथा द्रव्यों के संयोग से रस- निष्पत्ति होती है; गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधों से 'षाड़वादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भावों के मेल में नाट्यरस सम्पन्न होते हैं। इस आधार पर निष्पत्ति का अर्थ भरतमुनि के अनुसार है-बनाना या होना, स्वरूप को प्राप्त करना। फिर 'संयोग' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए भरतमुनि लिखते हैं कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से बने अन्न का उपभोग करते हुए पुरुष रसास्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित, वाचिक, आंगिक तथा मानसिक अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते - हैं और हर्षित होते हैं। इस आधार पर 'संयोग' का अर्थ हुआ-स्थायी भावों के साथ सम्यक् योग-संगम। इस प्रकार भरतमुनि का संयोग से अर्थ 'सहयोजन' हे तथा 'निष्पत्ति' से अर्थ स्थिति है- (नस् + पद (गतौ) + क्तिण निःशेष रूप से स्थिति प्राप्त करना। अतः भरत सूत्र का स्वयं भरतमुनि के अनुसार अर्थ हुआ-विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भावों का स्थीया भाव के साथ संसर्ग होने से रस की स्थिति प्राप्त होती है।' उनके अनुसार रस ऐसां नूतन पदार्थ नहीं है, जिसका पहले सर्वथा अभाव रहता हो- नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । अर्थात् विभाव आदि से उपगत होकर स्थायी भाव ही रस बन जाते हैं। किन्तु 'संयोग' और 'निष्पत्ति'- ये दोनों शब्द विवादास्पद रहे हैं और परवर्ती आचार्य इन्हीं की व्याख्याओं से उलझे रहे हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इन व्याख्याकारों के 11 मतों का उल्लेख किया है, किन्तु उसमें चार प्रमुख हैं। यद्यपि भरतमुनि की व्याख्या स्वयं ही सुलझी हुई है; फिर भी, व्याख्याकारों ने इस सूत्र का और भी स्पष्टीकरण किया है। इनमें भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त का नाम उल्लेखनीय है।

भरत के रस-सूत्र की अभिनव गुप्त सम्मत व्याख्या

रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरतमूनि के परवर्ती आचार्यों के मत-रस की निष्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वही सारे 'रस सिद्धान्त' की आधारशिला है। भरतमुनि के रस-सूत्र की व्याख्या में ही परवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगाई और परिणामस्वरूप 'रस-निष्पत्ति' से सम्बन्धित चार सिद्धान्तों का विकास हुआ। ये चार सिद्धान्त इस प्रकार हैं-1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, 2. शंकुक का अनुमितिवाद, 3. भट्टनायक का भुक्तिवाद, 4. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद। इन चारों आचार्यों के सिद्धान्त की संक्षेप में विवेचना इस प्रकार है- भट्टलोल्लट का मत : उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

'भट्टलोल्लट' ने भरत के रस सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी व्याख्या 'उत्पत्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन्होंने संयोग का अर्थ कार्यकरण सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति बताया है। उनके मतानुसार स्थायी भाव रस का कार्य रूप है। विभाव आदि उसके कारण हैं। स्थायी भाव आलम्बन द्वारा उत्पन्न होकर उद्दीपन आदि से उद्दीप्त होकर संचारी द्वारा पृष्ठ होकर रस रूप में रहता है। उनके अनुसार रस के मूल आधार स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। अतः उनके मत को उत्पत्तिराद कहा जाता है। भट्टलोल्लट के अनुसार रस की स्थिति मूल पात्र (दुष्यंत, राम आदि) में होती है। नाटक में नट या अभिनेता उनके भावों का अनुसरण करता है। नट की कुशलता इसी अनुकरण में होती है और प्रेक्षक नट की इसी कुशलता से चमत्कृत होकर आनन्द प्राप्त करता है।

भट्टलोल्लट के मत में रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में प्रमुख स्थान मूल पात्र का है। रस की निष्पत्ति उसे ही होती है। रस निष्पत्ति में प्रेक्षक का स्थान गौण है। उससे रस की निष्पत्ति नहीं होती है, वह केवल चमत्कृत होकर आनन्द प्राप्त करता है। डॉ. नगेन्द्र ने भट्टलोल्लट के मत की निम्नांकित विशेषताएँ बतलाई हैं- 1. पहली विशेषता तो इसकी यही है कि भरत सूत्र की व्याख्याओं में यह मूल के सर्वाधिक निकट है।

2. रस के अनुकार्यगत मानने का आशय यह है कि काव्य और नाट्य-सौन्दर्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल पात्र के भावों के साथ है और चूँकि मूल पात्र के भावों तथा उनसे प्रेरित कार्यों से ही काव्य या नाट्य की विषयवस्तु (थीम) का निर्माण होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि काव्य अथवा नाट्य का मूल सौन्दर्य उसकी विषय वस्तु में ही निहित रहता है। इस तरह प्रकारांतर से लोल्लट कला में वस्तु के महत्व की स्थापन करते हैं।

3. रस की व्यक्तिपरक व्याख्या का सूत्रपात यहीं से हो जाता है-कलात्मक स्थिति आगे बढ़कर रस मनःस्थिति तक पहुँच जाती है। यद्यपि यह मनःस्थिति सहृदय की नहीं है; फिर भी व्यक्ति की सत्ता इसमें सर्वथा स्पष्ट है।

4. अभिनेता द्वारा रसानुभूति की घोषणा कर लोल्लट ने नाट्यकला के विकास में एक नया मोड़ उपस्थित किया है।

प्रमुख आपत्तियाँ - भट्टलोल्लट के मत पर अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं। कतिपय प्रमुख आपत्तियाँ इस प्रकार समझी जा सकती हैं

1. सबसे पहले 'भट्टलोल्लट' ने स्थाई भावों को कार्य रूप माना है। उन्होंने विभावादि कारणों का बाद में विवेचन किया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण के पूर्व कार्य की स्थिति सम्भव है ? यदि कार्य की स्थिति पहले ही है तो कारणों की क्या आवश्यकता है? यदि रस-रूप स्थाई भाव पहले ही है तो विभाव आदि कारणों की क्या आवश्यकता है ? फिर कार्य सम्पन्न होने के बाद कारण की स्थिति नहीं रह जाती, किन्तु काव्य में आलम्बन आदि की स्थिति बनी रहती है।

2. दूसरी आपत्ति अनुकरण के सम्बन्ध में है। वेशभूषा तथा शारीरिक चेष्टा का अनुकरण तो हो सकता है, किन्तु भाव का अनुकरण किस प्रकार सम्भव है ?

3. तीसरी आपत्ति यह है कि प्रेक्षक को आनन्द किस रूप में प्राप्त होता है। यदि यह कहा जाये कि वह नट की अनुकरण की सफलता से चमत्कृत होकर आनन्द प्राप्त करता है तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रेक्षक के पास अनुकरण की सफलता की कसौटी क्या होती है ? प्रेक्षक का सीधा सम्पर्क मूल पात्रों से नहीं होता है तब वह कैसे अनुभव करता है कि अनुकरण सफल है या असफल ? अंततः संक्षेप में यही कह सकते हैं कि

बावजूद अनेक सीमाओं और आपत्तियों के भट्टलोल्लट के मत की महती विशेषता है। इस मत की विशेषता यह है कि इससे परवर्ती आचार्यों के लिए रस-निष्पत्ति पर विचार व मनन करने के लिए द्वार खुल जाता है।

शंकुक का अनुमितिवाद

'भट्टलोल्लट' मीमांसा दर्शन के अनुयायी थे और शंकुक न्याय दर्शन के अनुयायी थे। अतः उन्होंने नैयायिक के दृष्टिकोण से भरतमुनि के रस-सूत्र की व्याख्या की है। उन्होंने संयोग का अर्थ अनुमाप्य अनुपापक सम्बन्ध ग्रहण किया और निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति'। उनका मत 'अनुमितिवाद' कहलाता है क्योंकि उनके मत का मुख्य आधार अनुमान था। 'शंकुक' के मत का सारांश यह है- "काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने (अनुभाव इत्यादि) कार्य से, नट के ही प्रकाशित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्द से व्यवहृत होने वाले, कारण, कार्य और सहकारियों के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमक भावरूप सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ (अर्थात् नट के वास्तव रूप में) न रहते हुए भी समाज के संस्कारों से आस्वाद किया हुआ 'रस', कहलाता है।" इस मत से दो बातें स्पष्ट होती हैं- अनुकरण और अनुमान। इसी आधार पर इस मत को अनुमितिवाद कहते हैं। शंकुक के कहने का अभिप्राय यह है कि रति आदि स्थायी भाव आदि वस्तुतः अनुकार्य (राम आदि) में ही अवस्थित रहते हैं। अनुकर्ता (नट आदि) अपनी शिक्षा और अभ्यास के द्वारा उनका ऐसा अनुकरण करता है कि वे भाव कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं जान पड़ते। इस अनुकरण की मुख्यतः तीन प्रक्रियाएँ हैं-

1. विभाव आदि का अनुकरण काव्य के आधार पर होता है अर्थात् कवि के विभाव आदि का जैसा चित्रण नाटक में किया है, अनुकर्ता उसी के अनुसार व्यवहार करता है।

2. अनुभवों का अनुकरण अभिनय कला की शिक्षा के द्वारा किया जाता है। 3. व्यभिचार (संचारी) भावों का अनुकरण अनुकर्ता अपने कृत्रिम अनुभावों के आधार पर कर लेता है अर्थात् लोक में नट चिन्ता हर्ष आदि के वास्तविक अनुभव के बिना ही कृत्रिम रूप से बनाकर व्यभिचारी भावों का अभिनय करता है। "इस प्रकार वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का अभिनय इतनी कुशलता से करता है कि वे कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं होते, वरन् वास्तविक जान पड़ते हैं। सामाजिक इन्हीं अभिनयों के कारण इसमें वास्तविक स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं और पूर्वानुभव के संस्कारों के कारण सामाजिकों के मन में यही स्थायी भाव का अनुभव 'रस' बन जाता है।" यहाँ पर एक शंका की जाती है कि अनुकर्तागत स्थाई भाव तो अवास्तविक हैं। अवास्तविक का अनुमान भी मिथ्या होगा। मिथ्या ज्ञान के द्वारा रसानुभूति नहीं हो सकती। शंकुक ने इसका समाधान भी 'चित्रतुरंग न्याय' से किया है। जिस प्रकार घोड़े का चित्र देखकर प्रेक्षक घोड़े का अनुमान कर लेता है उसी प्रकार प्रेक्षक अभिनय करते हुए नट को देखकर उसमें मूल पात्र या नाटक का अनुमान लगा लेता है। यह अनुमान नट की अभिनय कुशलता के आधार पर होता है। प्रेक्षक का आनन्द इस अनुमिति क्रिया से ही है। शंकुक के मत की विशेषताएँ-शंकुक के अनुमितिवाद की प्रमुखतः चार विशेषताएँ हैं- 1. लोल्लट ने रस को अनुकार्य (राम आदि) की प्रत्यक्ष अनुभूति माना था। इसमें नाट्यगतभाव और प्रत्यक्षगतभाव की सीमाएँ अस्पष्ट हो गई थीं। शंकुक के मतानुसार इस अस्पष्टता का निराकरण हो जाता है क्योंकि इन्होंने रस को नाट्यगतभावं की प्रत्यक्ष अनुभूति न मानकर

उसका अनुकरण अर्थात् कल्पनात्मक अनुभूति माना है। यह अनुभूति काव्यकार और नट, पाठक 2. 'लोल्लट' की ऐतिहासिक और कवि-निबद्ध अनुकार्यों का भेद स्पष्ट न कर पाये और दर्शक आदि सभी में रहती है। थे। शंकुक कां स्पष्ट मत है कि नाट्य में अनुकार्य का अर्थ कवि-निबद्ध पात्र है। 3. लोल्लट ने रसोत्पत्ति में सामाजिक को विशेष महत्व नहीं दिया। शंकुक के रस सन्दर्भ में उसकी सत्ता को उचित मान्यता प्रदान की है जो कि काव्योद्देश्य से भी सम्बन्धित है।

4. रस को निश्चित दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सर्व-प्रथम शंकुक को ही प्राप्त है

शंकुक ने भट्ट लोल्लट की कतिपय आपत्तियों का निराकरण कर दिया फिर भी कुछ आपत्तियाँ रह गई। इन्होंने प्रेक्षक के आनन्द का आधार अनुमान को माना; किन्तु आनन्द अनुमान के द्वारा प्राप्त नहीं होता है। वह तो अनुभव के हारा प्राप्त होता है। उनके मत में दूसरी आपत्ति यह थी कि

नट अपने को मूल पात्र के समकक्ष मानता है तभी उसमें स्थाई भाव का निवास हो सकता है; किन्तु राम आदि पूज्य पात्रों के प्रति यह भाव आना सम्भव नहीं है। शंकुक। रस की व्याख्या में एक कदम आगे तो बढ़ाया किन्तु वे नट तक आकर रुक गये। नाटक देखने से प्रेक्षक को आनन्द का अनुभव होता है। इस आनन्द का स्वरूप क्या है; और यह आनन्द प्रेक्षक को किस तरह प्राप्त होता, इसका सन्तोषजनक उत्तर शंकुक नहीं दे पाये। A भट्ट नायक का मत : भुक्तिवाद रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्टनायक का मत पर्याप्त महत्व रखता है। ये भरत के रस- सूत्र के तीसरे प्रसिद्ध व्याख्याता है। अभिनव भारती के अनुसार भट्ट नायक के विचार ये हैं- "रस न प्रतीत होता है; न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। यदि इसकी प्रतीति निजी व्यक्तिबद्ध भावानुभूति मानी जाये तो करुण रस में दुखानुभूति होनी चाहिए। उस प्रतीति को व्यक्तिबद्ध मानना उपयुक्त ही है क्योंकि सीता आदि के दर्शन के निजी विभाव नहीं हो सकते हैं और न उस समय अपनी पत्नी की स्मृति हो सकती है। विभावों के देवतादि अलौकिक होने के कारण और समुद्रल्लंघन जैसे विकट असाधारण (निजी सामर्थ्य से परे) होने से उनका निजी रूप में साधारणीकरण सम्भव नहीं है।" वह प्रतीति न राम की स्मृति रूपी होती है और न ही प्रत्यक्ष मौलिक

विशेषताएँ-डॉ. नगेन्द्र के अनुसार 'भावन' का अर्थ कलात्मक प्रतीति है जो साधारणी- करण का ही स्थानापन्न है। भट्टनायक के अनुसार भरत-सूत्र का अर्थ यह है-विभाव, अनुभांव और संचारी भावों से भोज्य-भोजक भाव से रस की मुक्ति होती है। रस सिद्धान्त के विकास में भट्टनायक के मत की प्रमुख विशेषताएँ बड़ा महत्व रखती है। प्रमुख विशेषताएँ ये हैं-

1. रसास्वाद के स्वरूप की तात्विक व्याख्या सर्वप्रथम भट्टनायक ने ही की है।

2. भट्टनायक के मत की सववोंपरि उपलब्धि यह है कि इससे साधारणीकरण के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। यह साधारणीकरण सिद्धान्त रस-सिद्धान्त और रस-विवेचन का मूल आधार है। आक्षेप और आरोप-आचार्य अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के मत पर जो आक्षेप किये हैं वे ये हैं-

1. अभिनवगुप्त रस तथा रस-भोग में अन्तर नहीं मानते हैं।

2. प्रतीति और भुक्ति का भेद मिथ्या है। भुक्ति भी प्रतीति ही है क्योंकि उसके बिना किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं है।

3. भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत भोग के स्वरूप की व्याख्या तात्विक नहीं है।

4. रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों न मानने पर उसे या तो नित्य माना जायेगा या असत् क्योंकि जो नित्य है उसकी ही उत्पत्ति नहीं होती और जो असत् है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। संसार में जितने भी तत्व हैं, उनकी इन स्थितियों में से एक स्थिति अवश्य होती र है या तो वे नित्य होते हैं या असत्। अतः रस की अभिव्यक्ति और उत्पत्ति दोनों का ही निषेध कर देने से उसकी सत्ता असिद्ध हो जाती है।

5. भावकत्व और भोजकत्व की सत्ता भी शास्त्र सम्मत और पुष्ट नहीं है। अभिनवगुप्त का मत : अभिव्यक्तिवाद भट्टनायक के मत पर अनेक आक्षेप लगाकर अभिनवगुप्त ने भरत-सूत्र की जो व्याख्या की वह साहित्यशास्त्र में अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध और प्रचलित है। 'रस निष्पत्ति' की व्याख्या करने में जो सफलता अभिनवगुप्त को प्राप्त हुई वह किसी अन्य व्यक्ति को नहीं • मिल सकी। यह ठीक है कि उन्होंने भट्टनायक के मत से बहुत कुछ ग्रहण किया, किन्तु यह कहना भी उचित है कि उन्होंने रस निष्पत्ति को शैव दर्शन की पीठिका पर रखकर ऐसा रूप प्रस्तुत किया जो सर्वसम्मत है। भट्टनायक ने रसास्वाद के कारणों पर पूरी योग्यता के साथ प्रकाश डाला था, किन्तु इस बात से अलक्षित ही रहने दिया था कि रसास्वादकर्ता प्रेक्षक, पाठक या श्रोता के स्वयं के भावों से भी रस के आस्वाद में सहायता मिलती है या नहीं। वस्तुतः उन्होंने सम्पूर्ण महत्व काव्य की शक्तियों को दिया था। अभिनवगुप्त ने इस कमी को समझा था। अभिनवगुप्त ने 'रसनिष्पत्ति' के लिए सामाजिक में अनादि वासना की कल्पना की और वासना-संवाद को ही रस का मुख्य हेतु माना। इन्हीं वासनागुप्त संस्कारों को स्थायी भाज कहा ■ जाता है। कमोवेश रूप में ये सभी मनुष्यों में मिलते हैं। कालीदास के निम्नांकित श्लोकों के - आधार पर अभिनवगुप्त ने प्रमाणित किया है कि ये स्थायीभाव रम्य वस्तु को देखकर या मधुर - शब्दों को सुनकर जाग उठते हैं और सामाजिक अपने भावों को जाग जाने (व्यक्त हो जाने) पर ही आनन्द लाभ करता है-

रम्याणि वीक्ष्ये मधुरांश्च, निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुकी भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तु । तच्चेतसामस्मरति नूनमबोधपूर्वम्,भावस्थिराणि जननान्तर सोहृदानि ।।" अभिनवगुप्त ने कहा है कि रसास्वाद के लिए जहाँ वासनारूप से संस्थापित भावों कीजागृति आवश्यक है, वहाँ एक ओर सामाजिक का काव्यानुशीलनाभ्यासी, अनुभवी और प्रतिभाशाली हृदय होना भी आवश्यक है तथा दूसरी ओर इस बात की चरम आवश्यकता है कि कवि या सहृदय के अपने कारण से कोई बाधक विघ्न इस बीच उपस्थित न हो जावे। जब तक सामाजिक का हृदय वीतविघ्न स्थिति में न पहुँचेगा तब तक रसास्वाद की कल्पना असम्भव है। रस प्रतीति बोति विघ्न प्रतीति है। तटस्थता, विषयावेशादि के अपसृत हो जाने पर रस साक्षात् हृदय में प्रवेश करता सा जान पड़ने लगता है। उस स्थिति में सामाजिक की आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होती है, न विशेष रूप से उल्लिखित ही। बीति विघ्न स्थिति में होने वाली शान्ति इतनी चमत्कारपूर्ण होती है कि उसे हो 'रसत्', 'आस्वाद्', 'भोग', 'विश्रान्ति', संवित्ति आदि अनेक पर्यायों से व्यक्त किया जा सकता है। यही चमत्कार अद्भुत भोग रूप अथवा स्पंदन रूप होता है। यह दृश्य न तो लौकिक ही है, न मिथ्या ही; न इसे अनिर्वचनीय कह सकते हैं, न लौकिक के तुल्यमात्र या आरोपमात्र। विभावादि रस के आस्वाद में किस प्रकार सहायक होते हैं, इसे अभिनवगुप्त ने शाकुन्तल नाटक के "ग्रीवाभंगाभिरामम्" श्लोक से समझाया है। संक्षेप में अभिनवगुप्त ने निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति माना है और भट्टनायक के रस की उत्पत्ति, प्रतीति और अभिव्यक्ति किसी को न मानने का खण्डन किया है। सरल शब्दों में कह सकते हैं कि, अभिनवगुप्त ने माना है कि जो न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त, उसे तो असत् ही कहना ही चाहिए, वस्तुतः रस अभिव्यक्त होता है। स्थायी भाव वासना रूप सहृदय के मन में सुप्त रहते हैं और विभावादि की सहायता से वे जागृत और पुष्ट होकर रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। जैसे मिट्टी की गन्ध उसमें ही विद्यमान होती है और जलसिंचन से वह प्रकट हो जाती है उसी प्रकार सामाजिक के भाव ही विभावादि के कारण अभिव्यक्त होते हैं। मूल्यांकन-अभिनवगुप्त ध्वनिवादी थे। वह रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि मानते थे। अतः उन्होंने भट्टनायक के तीन व्यापारों-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व का निषेध किया। रस अभिव्यक्ति में अभिधा के साथ ही व्यंजना द्वारा रस-अभिव्यक्ति हो जाती है। भावकत्व और भोजकत्व को पृथक् पृथक् मानना व्यर्थ था। जैसे ही विभावादि होते हैं, साधारणीकृत होते हैं और सामाजिक का हृदय सत्वोद्रेक की अवस्था प्राप्त करता है, वैसे ही रस अभिव्यक्त हो जाता है। अतः भोजकत्व को पृथक् व्यापार कहना व्यर्थ है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि विभावन का आधार भी व्यंजना है। रसाभिव्यक्ति, रसास्वाद और भोग अभिन्न हैं। अभिनवगुप्त द्वारा संशोधित मत ही आज तक मान्य है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने केवल रस की आत्मगत व्याख्या प्रस्तुत की है। पूर्वाचार्यों का रसनिर्मित का वस्तुगत दृष्टिकोण इन्होंने सर्वथा छोड़ दिया। यही रस निष्पत्ति का विस्तृत और सम्यक् निरूपण है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय विचारणा में साधारणीकरण

भरत मुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में आक्षेप और प्रत्याक्षेप करते हुए साधारणीकरण की समस्या सामने आई क्योंकि लोल्लट और शंकुक द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं पर आक्षेप करते हुए यह सवाल सामने उपस्थित हुआ कि सहृदय दूसरों के भावों के रसास्वाद कैसे प्राप्त कर सकता है? क्योंकि जो मूलभाव वास्तविक नायक और नायिका अथवा कविनिर्मित पात्रों में विद्यमान रहता है वह सहृदय से पूर्वाग्रह होने के कारण कैसे रसास्वाद की स्थिति प्राप्त कर सकता है ? इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए भरत मुनि के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक ने यह 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। साधारणीकरण का अर्थ एवं प्रक्रिया साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है-व्यक्ति का विलयन, निर्वेयक्तीकरण, सम्बन्ध- विशेष का त्याग, असाधारण को साधारण रूप में प्रस्तुत कर देना आदि। दूसरे शब्दों में साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई पड़ती एवं अनुभूत होने लगती हैं। कांव्य और नाटक में साधारणीकरण की प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप से ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया से सहृदय तथा काव्य या नाटक का मूलपात्र (अनु-कार्य) दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भावों की वैयक्तिक अनुभूति को रस-रूप में परिणत करके सामाजिकों को भी उसकी अनुभूति करा देता है। अर्थात् यह क्रिया पाठक, श्रोता, दर्शक, कवि सबके हृदय में घटित होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणीकरण की प्रक्रिया में पाँच अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं- पूर्वज्ञान, इन्द्रियसन्निकर्ष, अनुभूति, तुलना और सामान्यीकरण। प्रथम अवस्था में सहृदय काव्य- शास्त्रादि के अध्ययन तथा लोक-निरीक्षण आदि से काव्य या जगत् की अनुभूतियों को समझने की शक्ति पाता है। द्वितीय अवस्था में वह काव्य, नाटक अथवा प्रत्यक्ष जीवन का दृश्य रागात्मक रूप में देखता है, निज के सुख-दुःख आदि भावों से मुक्त होता है। तृतीय अवस्था में वह काव्य पढ़ते या नाटक देखते समय पात्रों को विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियों से मुक्त रूप में देखने

का अनुभव करने लगता है। चतुर्थ अवस्था में वह अपने मन में आये हुए विशिष्ट उपाधियों से युक्त पात्रों की अपनी कल्पना द्वारा अपनी पूर्वोपार्जित अनुभूतियों तथा संस्कारों से बार-बार तुलना करने लगता है। यही तन्मयता की स्थिति होती है। पाँचवी स्थिति में उन पात्रों में पूर्वोपार्जित अनुभूतियों, आदर्शों तथा संस्कारों की अनुरूपता पाकर उनको उपाधि मुक्त रूप में निरूपित कर लेता है। इसी को साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। इसमें पात्रगत अनुभूतियों में से सब प्रकार की व्यक्तिनिष्टता दूर हो जाती है।

संस्कृत आचार्यों द्वारा साधारणीकरण की व्याख्या

(प्राचीन एवं नवीन मान्यताएँ)

1. भट्टनायक-साधारणीकरण सिद्धान्त के प्रवर्तक-साधारणीकरण सिद्धान्त के प्रवर्तक भरतमूनि के रस-सूत्र "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पतिः" के अन्यतम व्याख्याता भट्टनायक हैं। उन्होंने रस-निष्पत्ति के प्रसंग में काव्य अथवा नाटक में वर्णित दुष्यन्त शकुन्तलादि पात्रों के भाव किस प्रकार सहृदय सामाजिकों, पाठकों, श्रोताओं और प्रेक्षकों के भाव बन जाते हैं, इस समस्या का समाधान करते हुए तीन व्यापारों की कल्पना की- (i) अभिधा, (ii) भावकत्व और, (iii) भोजकत्व। अभिधा का व्यापार है, शब्दार्थ का बोध कराना। यह व्यापार काव्य, इतिहास, पुराण आदि में समान रूप से व्याप्त रहता है। काव्य में भी यह शब्दार्थ का बोध कराता है। किन्तु काव्य में केवल अभिधा से ही काम नहीं चल सकता। अतः भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की कल्पना की। काव्य-नाटक में पहले-पहले सहृदय पाठक या प्रेक्षक शकुन्तलादि को व्यक्ति विशेष के रूप में ही देखता है। किन्तु कविकर्म-कौशल तथा नाटकीय साज-सज्जा और अभिनय सौष्ठव आदि के कारण पाठक जो कुछ पढ़ता है या प्रेक्षक जो कुछ देखता है, उसी में आत्म-विभोर होकर बारम्बार उसी का ध्यान करने लगता है। इसे भावना कहते हैं और जिस व्यापार द्वारा यह सम्पन्न होता है उसे भट्ट नायक ने भावकत्व कहकर पुकारा है। इस भावकत्व के कारण शकुन्तलात्व या दुष्यन्त का दुष्यन्तत्व नहीं रह जाता, यह मात्र नारी या पुरुष के रूप में ही पाठक-दर्शक के लिए रह जाता है। देश और काल का बन्धन भी उस समय विलुप्त हो जाता है। इस प्रकार विशिष्ट शकुन्तला दुष्यन्तादि विभावों का सामान्य नारी-नर के रूप में परिवर्तित हो जाना ही शास्त्रीय परिभाषा में साधारणीकरण कहलाता है। भट्ट नायक की कोई रचना नहीं मिलती, किन्तु उनके मत का उल्लेख अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने किया है। अभिनवगुप्त ने भट्ट नायक के मुक्तिवाद और उसके दोनों व्यापारों भावकत्व और 'भोजकत्व का विरोध करते हुए भी उसके साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उन्होंने भट्ट नायक के मत को उद्धृत करते हुए हा है- "विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव रूप में ही इस भोजकत्व व्यापार द्वारा आस्वादित किया जाता है।"

इसका विश्लेषण करने से निम्न तथ्य प्रकट होते हैं-

(क) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(ख) साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है-अर्थात् दोनों एक ही हैं।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है। भाव्यमान को 'काव्य प्रकाश' के टीकाकारों ने 'साधारणीभूत' का ही पर्याय माना है और इसमें विपत्ति (सन्देह) के लिए अलकाश नहीं होना चाहिए।

1. 'काव्य प्रकाश' के टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है- "भावकत्व का अर्थ है-साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायीभावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का अर्थ है-विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो जाना।" भट्टनायक के उक्त साधारणीकरण सिद्धान्त की महत्ता प्रतिपादित करते हुए डॉ. नगेन्द्र कहते हैं- 'भट्टनायक की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है-साधारणीकरण का सिद्धान्त । काव्यास्वादन का मौलिक प्रश्न यह है कि काव्य में अभिव्यक्त व्यक्तिभाव कवि या कवि निविद्धपात्र के सहृदय के आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं, एक सहृदय के ही नहीं समस्त सहृदय समाज के ? इसका समाधान सर्वप्रथम भट्ट

नायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना द्वारा किया।" यह कथन वास्तव में साहित्यलोचन का मूलाधार है और भट्टनायक ने इसका समाधान कर आलोचनाशास्त्र से अभूतपूर्व प्रसिद्धि प्राप्त की।

2. अभिनवगुप्त द्वारा भट्टनायक के मत में संशोधन और विस्तार-भरत के इस सूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने 'अभिनव भारती' में भट्ट नायक के रस-निष्पत्ति सम्बन्धी तीनों व्यापारों, अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व का खण्डन करते हुए भी उनके साधारणीकरण सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वासना (संस्कार) रूप में स्थायी भाव विद्यमान रहते हैं। जब कोई सहृदय काव्य पढ़ता है या नाटक देखता है, तो पहले वह काव्यगत और नाटकीय पात्रों को व्यक्ति विशेष के रूप में ही देखता है, किन्तु बाद में अपनी प्रखर, नटादि सामग्री तथा कविकर्म-कौशल के कारण विशिष्ट पात्रों को सामान्य नर-नारी के रूप में ही देखने लगता है। उस समय विभावादि के कारण उसके स्थायी भाव जागृत हो जाते हैं, जो उसके मन में वासना के रूप में सुप्त पड़े रहते हैं। साधारणी- करण द्वारा वे व्यक्ति के होते हुए भी व्यक्ति के नहीं रहते पर वे अपना निजत्व भी नहीं खोते। सामाजिकों का मन और समय इतना तल्लीन रहता है कि उनका निजत्व भी जाता रहता है। स प्रकार यह मात्र समस्त सहृदयों के अनुभव का विषय बन जाता है और आस्वाद्य होकर स रूप हो जाता है। अभिनव गुप्त का यह भी कहना है कि जब विभावादि का साधारणीकरण होता है तो स्थायी भाव देश-काल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। देशकालाधनाविङ्गतम्। इस कारण सहृदयों की अनुभूति में देश-काल की सीमा भी बाधा नहीं बनती। इस प्रकार अभिनव गुप्त ने भट्ट के साधारणीकरण सिद्धान्त को विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी और स्थायी भाव की सीमा से आगे बढ़कर सहृदय सामाजिक तक पहुँचा दिया। यही नहीं, उन्होंने साधारणीकरण की क्रिया को वैयक्तिक नहीं सामूहिक माना। उनका कहना है कि एक प्रमाता (सामाजिक) का भाव ही मुक्त नहीं होता वरन् समस्त सामाजिक (सहृदय) एकाग्रचित होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

3. परवर्ती आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ-भट्ट नायक अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्य दोनों के मत का समर्थन और समन्वय करते रहे। केवल विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के चिन्तन में कुछ नई भंगिमाएँ दर्शित हुई। विश्वनाथ ने भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों का समन्वय करते हुए साधारणीकरण के फलस्वरूप आश्रय के साथ सहृदय का तादात्मय घोषित किया। उन्होंने अपने 'साहित्यदर्पण' में इस सम्बन्ध में लिखा है- "काव्य नाट्य में वर्णित विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों में 'साधारणीकरण' की अलौकिक शक्ति रहा करती है। इस शक्ति की यह महिमा है कि प्रत्येक सामाजिक अपनी-अपनी वैयक्तिक तकी ही सीमाओं से परे पहुँच जाता है और अपने आपको उन महावीर राम आदि नायकों के समान, वस्तुतः उनसे अभिन्न मानने लग जाता है जिनकी समुद्र सन्तरण, रावण वध आदि लीलायें लोक जीवन में अत्यन्त असाधारण व लोकोत्तर मानी गई हैं और वस्तुतः हैं भी।" सहृदय की महावीर, रामादि से अभिन्नता की अनुभूति तादात्म्य ही है। "पंडितराज जगन्नाथ ने भी नव्य-न्याय के आलोक में प्रकारान्तर में सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य कथन किया है।" साधारणीकरण और हिन्दी आचार्य: कुछ नवीन स्थापनाएँ- पंडितराज जगन्नाथ के बाद संस्कृत में मौलिक चिन्तन की परम्परा प्रायः लुप्त हो गई। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों का मुख्य विषय काव्यशास्त्र को सामान्य रोचक सामग्री प्रदान करना ही था। अतः साधारणीकरण जैसे गम्भीर विषय का विवेचन आगे न बढ़ सका। आधुनिक काल में हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. गुलाब राय, डॉ. नगेन्द्र आदि विद्वानों तथा मराठी के नरसिंह चिन्तामणि केलकर, वामन मल्हार जोशी, द.क. केलकर, प्रो. जोग आदि ने इस सिद्धान्त की गहरी समीक्षा के साथ नवीन उद्भावनाएँ भी की। यहाँ संक्षेप में हिन्दी आचार्यों के विचार प्रस्तुत हैं- 1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- पण्डितराज जगन्नाथ के अनन्तर लगभग तीन शताब्दियों वाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' द्वारा साधारणीकरण सिद्धान्त के गम्भीर विवेचन का श्रीगणेश किया। उनके लेख में साधारणीकरण

सम्बन्धी निम्न विचार महत्वपूर्ण हैं-

(i) जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबमें उसी भाव का आलम्बन हो सकें, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में यह हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

(ii) (क) काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं। वह 'व्यक्ति' सामने आता है, 'जाता' नहीं।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या बस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय के भाव' का आलम्बन होती है, वैसे ही वह सहृदय पाठको के श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ii) कल्पना में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो वस्तुतः भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।

(iv) 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत' होते हैं- इसका तात्पर्य यह है कि रसमग्र पाठक के मन में यह 'भेद-भाव' नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या ओता का हृदय लोक सामान्य का हृदय हो ही जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता। शुक्ल जी के अनुसार साधारणीकरण मूल रूप से आलम्बन या आलम्बन धर्म का होता है। अभिप्राय यह है कि कवि इस प्रकार के आलम्बन का वर्णन करता है, जो अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी अर्थात् अपने व्यक्ति विशेष के रूप को सुरक्षित रखते हुए कुछ समान धर्मों के कारण पाठक-श्रोताओं के मन में वैसे ही भाव उद्बुद्ध करता है, जैसे ही स्वयं आश्रय के मन में उठते हैं, इस तरह आश्रय के भाव समस्त पाठकों के भी आलम्बन बन जाते हैं। उस अवस्था में पाठक थोड़ी देर के लिए अपने पराये का भेद भूल जाता है। उसी समय रसानुभूति सम्भव होती है। शुक्ल जी के साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों का अभिनवगुप्त और विश्व का प्रभाव स्पष्ट है। "व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय होता है।" इसमें अभिनव गुप्त के भावों की स्पष्ट प्रतिच्छाया है। इसी प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में विश्वनाथ की छाप स्पष्ट है। वस्तुतः शुक्ल जी का सारा, जोर भाव के विषय 'आश्रय' पर है। उसके मत में साधारणी- करण और रसानुभूति तभी सम्भव है, जब ऐसा आश्रय लाया जाय जिसके भाव समस्त सहृदयों के भाव बन जायें। इस तरह वे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भावों के साथ सहृदय के साधारणीकरण को महत्व नहीं देना चाहते। इसी कारण रामदहिन मिश्र जैसे सुधी आलोचकों ने आलम्बन के ही साधारणीकरण पर आपत्ति प्रकट की है। डॉ. रघुवंश भी

शुक्ल जी के 'आश्रय-तदात्म्य' से अपने को सहमत नहीं कर पाये।

2. डॉ. श्यामसुन्दर दास-डॉ. श्यामसुन्दर दास ने आचार्य केशव प्रसाद मिश्र का अनुकरण करते हुए साधारणीकरण का सम्बन्ध योग की मधुमती भूमिका से माना है। उनके शब्दों में "विभाव का साधारणीकरण कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त का एक और साधारणीकरण होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"

3. डॉ. नगेन्द्र की स्थापना-आधुनिक हिन्दी समीक्षकों में डॉक्टर नगेन्द्र की स्थापना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनका मत है कि साधारणीकरण 'कवि की भावना' का होता है। अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट लोलक साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु को- (1) कवि (2) नायक (आश्रय) और (3) श्रोता स्वीकार कर चुके थे। सम्भवतः 'उनकी स्थापना की प्रेरणा का श्रोत उसी में निहित है।अपने 'रस-सिद्धान्त' में साधारणीकरण पर विचार करते हुए वे लिखते हैं- "अन्त में हम घूम-फिर कर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वाङ्ग का होता है।" उदाहरण के लिए मानस के जनक वाटिका प्रसंग में आश्रय राम, आलम्बन, सीता, आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव, जनक वाटिका का रमणीय वातावरण उद्दीपन, राम के मन में संचरण करने वाले हर्ष, मति आदि भाव साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण प्रसंग ही विशिष्ट देश-कालबद्ध घटना न रहकर साधारणीकृत हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी पंक्तिसंसर्गों से मुक्त साधारणीकृत हो जाती है, किन्तु यह काव्यप्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है-इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है और यह अर्थ क्या है ? कवि का संवेद्य, कवि की अनुभूति भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना' है। काव्य प्रसंग में बिम्बित हुई, सीता विषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में उनके प्रथम मिलन के पावन रमणीय वातावरण की भावना, उद्दीपन 'जनक वाटिका' के रूप में और राम के मन में उद्भूत भावनाओं की कल्पना हर्ष, मति आदि संचारियों के रूप में बिम्बित हुई है। ये छोटे-छोटे बिम्ब मिलन विषयक कवि की संश्लिष्ट 'भावना' को शब्द मूर्त करता है-अतः यह काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब मात्र है। यह काव्य प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है और चूँकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है और चूंकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य- प्रसंग या इसके समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना साधारणीकरण

मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। विभिन्न मान्यताओं के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि, "साधारणीकरण काव्य की अपनी अनुभूति का होता है।" П

अलंकार सिद्धांत :

मूल स्थापनाएँ, अलंकारों का वर्गीकरण

1.8 अलंकारवादियों के काव्य सिद्धांत की व्याख्या

उत्तर- भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्यों की एक ऐसी परम्परा मिलती है जो अलंकारों को काव्य में प्रमुख स्थान देते थे और अलंकारों को काव्य-सौन्दर्य का मूल कारक मानकर उन्हें ही काव्य का सर्वस्व घोषित करते थे। इस परम्परा के प्रथम प्रबल समर्थक आचार्य भामह है और उनके पश्चात् दण्डी, उद्भट, रूद्रट आदि का नाम आता है और इन्हीं आचायों के प्रयासों से अलंकारों की संख्या भी सैंकड़ों तक पहुँच गयी। अनेक नवीन अलंकारों का नामकरण हुआ और उनके सूक्ष्म भेदोपभेद निरुपित हुए। अलंकार का शाब्दिक अर्थ शोभा-प्रसाधन या आभूषण है। 'अलंकार' शब्द में 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। 'अलम्' का अर्थ है भूषण अर्थात् जो अलंकृत या भूषित करे, वह

अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए इस कारण (कारक) व्युत्पत्ति से उपमा आदि का महत्व होता है। अलंकार सम्प्रदाय का विकास-अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह माने जाते हैं। उनका समय ईसा की छठी शताब्दी था। उससे पहले भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' में 4 अलंकारों का वर्णन किया था-उपमा, दीपक, रूपक और यमक। अग्नि पुराण में पहली बार शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थलंकार का भेद किया गया है और 22 अलंकारों का वर्णन किया गया। अग्निपुराण के अज्ञात लेखकों ने काव्य में अलंकार का महत्व बताते हुए लिखा है कि अलंकार रहित सरस्वती विधवा के समान होती है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के लेखक ने अर्थालंकारों को अधिक महत्व दिया है। भामह ने शब्द और अर्थ की वक्रता या वैचित्य को अलंकार मानते हुए वक्रोक्ति को मूल अलंकार माना और इसे ही काव्य का मूल तत्व कहा। भामह ने अलंकार का क्षेत्र विस्तार करके स्वभावोक्ति को भी अलंकार में शामिल किया और रसों का समावेश 'रसवत' अलंकार में किया। भामह के बाद दण्डी ने अतिश्योक्ति को मूल अलंकार माना। हिन्दी में केशव की 'कवि प्रिया' पर दण्डी का विशेष प्रभाव है। दण्डी ने अलकारों को काव्य में शोभा का कारण माना "काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।" वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं, किन्तु अलंकारों का महत्व उन्होंने भी माना। उनके अनुसार अलंकार काव्य को ग्राहा बनाते हैं- "काव्य ग्राह्यमलंकारात् ।" दसवी शताब्दी के बाद काव्य क्षेत्र में ध्वनि-सम्प्रदाय की महत्ता बढ़ी किन्तु अलंकार का विवेचन बन्द नहीं हुआ। परवर्ती विद्वानों ने अलंकारों के भेद उपभेद का विवेचन अधिक किया। भोज ने 'सरस्वती कठांभरण' में शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकारों के रूप में 62 अलंकारों का वर्णन किया। मम्मट, ने यद्यपि यह माना था कि बिना अलंकार के भी काव्य हो सकता है। (सगुण वनर्लकृति पुनः क्वापि) किन्तु उन्होंने काव्य प्रकाश अलंकारों का वर्णन किया। अलंकार सम्प्रदाय के इतिहास में जयदेव का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अलंकार को काव्य का मूल तत्व माना और कहा कि जो अलंकार के बिना काव्य को मानते हैं वे ताप के बिना आग को क्यों नहीं मान लेते हैं। उनके ग्रन्थ 'चन्द्रलोक' का हिन्दी के रीति कवियों पर काफी प्रभाव हैं। भानुदत्त ने रस सम्बन्धी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसतरंगिणी' के साथ 'अलंकार-तिलक' नामक ग्रन्थ भी लिखा था। अलंकार सम्प्रदाय का अन्तिम महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'अप्पय दीक्षित' का 'कुवलयानन्द है।' जिसमें उन्होंने सौ से अधिक अलंकारों का विवचन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रस गंगाधर' में 60 अलंकारों का वर्णन किया है। अलंकारों का स्वरूप-अलंकारों की सहज परिभाषा है- 'अलंकरोति इति अलंकाराः' जो शोभा करते हैं वे अलंकार होते हैं। अलंकारों का मूल कार्य काव्य की शोभा बढ़ाना है। दण्डी ने यही कहा था कि काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार हैं। वामन ने इसे संशोधन करके और उपयुक्त कर दिया था कि अलंकार शोभाकारक नहीं है। शोभा की अतिशयता करने वाले हैं। अलंकार का मूल आधार चमत्कार है। यह चमत्कार चाहे वक्रता द्वारा उत्पन्न हो चाहे अतिशय कथन के द्वारा। लोक व्यवहार में प्रयुक्त सामान्य कथन काव्य, साहित्य नहीं है। काव्य साहित्य विशेष या चमत्कारिका कथन है। चमत्कारिक कथन से तात्पर्य है ऐसा कथन जो पाठक का ध्यान आकर्षित करता है और फिर उसे प्रमाणित करता है। यह चमत्कार या तो कथन की वक्रता से उत्पन्न होता है या कथन की अतिशयता से या अन्य किसी विशेष ढंग से। इसी अर्थ में प्राचीनकाल में अलंकार को काव्य का मूल तत्व माना गया था। अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य एवं उनके मत-भारतीय काव्य शास्त्रीय परम्परा में दूसरी

कड़ी अलंकार सिद्धांत ही है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसे 'रिटोरिसिज्म' की संज्ञा दी गयी है। इस सिद्धांत को भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में किसी एक आचार्य ने संस्थापित नहीं किया बल्कि यह तो इस सिद्धांत के साथ-साथ ही विकसित होता है। फिर भी अलंकार सिद्धांत के समर्थकों के रूप में हम आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुय्यक आदि कई अलंकार- वादियों का संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत करेंगे- भामह-संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य भामह का विशेष महत्व है। इनका समय छठी शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार' ही है। भामह की मान्यता थी कि बिना अलंकारों के काव्य उसी प्रकार शोभित नहीं हो सकता जिस प्रकार किसी सुंदर स्त्री का मुख बिना अलंकारों के शोभा नहीं पाता। क्योकि यह प्रसिद्ध पंक्ति इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं-

"न कान्तमपि विभूषणं विभाति वनिता मुखम्"

- भामहकृतकाव्यालंकार

इस प्रकार आचार्य भामह जो कि प्रथम अलंकारवादी आचार्य कहे जा सकते हैं। उन्होंने काव्य के लिए अलंकारों का महत्व स्थापित किया है, पर भामह ने अलंकार की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी। हाँ, इतना अवश्य है कि उन्होंने कोई 35 या 36 अलंकार अवश्य बताए जिनमें उपमा, रूपक, श्लेष आदि सभी प्रधान अलंकार आ जाते हैं। दण्डी-भारतीय काव्यशास्त्र में दण्डी ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में अलंकार की एक निश्चित परिभाषा देते हुए लिखा है-

"काव्यशोभाकरान् धमनि अलंकारान् प्रचक्षते"

अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं। इस मान्यता ने काव्य के क्षेत्र में अलंकारों का महत्व और भी बढ़ा दिया है, क्योंकि काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले सभी तत्व अलंकारों की परिधि में आ गए। वामन-यद्यपि वामन रीतिवादी आचार्य थे, पर उन्होंने भी अलंकारों को अत्यत महत्व प्रदान किया है तथा अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की 'सौन्दर्य-अलंकार' अर्थात् काव्य का सौन्दर्य ही अलंकार है और अलंकार ही काव्य सौन्दर्य है। वामन द्वारा बताए गए अलंकार काव्य के नित्य धर्म नहीं माने जा सकते क्योंकि उनके अलंकार उपमादि नहीं हैं, बल्कि वामन के अनुसार तो अलंकार कार्य तो काव्य गुण करते हैं। कुन्तक-यद्यपि कुन्तक मे अपना नया काव्य वक्रोक्ति सिद्धांत स्थापित किया है पर उनको भी अलंकारवादी आचार्यों में ही परिगणित किया जाता है क्योंकि कुन्तकपूर्व वक्रोति किसी न किसी रूप में अलंकार ही रही है। अतः कुन्तक भी काव्य में अलंकार के मोह को नहीं छोड़ सके। कुन्तक की मान्यता का अनुवाद इस प्रकार है- अलंकार सहित शब्दार्थ ही की कव्यता होती है। अतः काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य है और उसका योगदान काव्य के लिए अभीष्ट हैं।

मम्मट-ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने काव्यालंकारों की हारादि के समान आभूषणों की संज्ञा तो दी, पर अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकार नहीं किया, बल्कि उन्होंने तो अलंकारयुक्त काव्य के चित्र काव्य या अधमकाव्य तक कहा। मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य में गौण स्थान हीं दिया। आगे चलकर मम्मट पर आक्षेप करते हुए आचार्य जयदेव ने अपने ग्रंथ 'चन्द्रलोक' में बहुत कुछ कह डाला।

जयदेव-यद्यपि जयदेव की अलंकार संबंधी धारणा पुर्वाग्रहयुक्त होने के कारण मान्य नहीं है, तथापि उसको जान लेना चाहिए। वे लिखते हैं- "अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थवनलंकृति। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृति ।।" अर्थात् जो व्यक्ति बिना अलंकारों के काव्य का अस्तित्व स्वीकार करता है, वह ऐसा क्यों नहीं मान लेता कि अग्नि भी बिना उष्णता के हो हो सकती है। भाव यह है कि जयदेव आदि अलंकारवादियों ने बिना अलंकारों के काव्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। आगे चलकर हिन्दी साहित्य के रीतिकाल अर्थात् उत्तर मध्य काल में अलंकारों की पुनः स्थापना हुई और हिन्दी के रीतिबद्ध कवियों ने अलंकारों को वही मान्यता दी जो अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने दी थी अर्थात् अलंकारों को कविता रूपी कामिनी के महत्वपूर्ण आभूषण माना और कहा। आचार्य केशव आचार्य केशव रीतिकालीन आचार्यों में विशेष स्थान रखते हैं। उनके अनुसार अलंकार-

"जदपि सुजाति, सुलच्छनी, सुबरन, सरस सुकृत। भूषण विन न बिराजई, कविता बनिता मित्त।"

अर्थात् चाहे कविता रूपी बनिता कितनी ही उच्च वंश की सुलक्षणी सुंदर, मधुर-भाषिणी अच्छे स्वभाव को क्यों न हो पर बिना भूषण (अलंकार) के वह भी शोभायमान नहीं होती। इस प्रकार अलंकार सिद्धांत को बार-बार समर्थन मिलता रहा और अलंकार सिद्धांत का विस्तार होता रहा, पर उस ध्वनिवादियों ने अलंकार सिद्धांत की जड़ें उखाड़ डाली, फिर भी अलंकार सिद्धांत का ऐतिहासिक महत्व अवश्य है। यह अलग बात है कि कतिपय आचार्य ने इसे सीमातीत महत्व दे डाला। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अलंकार लक्षण में अलंकार का रस के साथ कोई निश्चित संबंध स्वीकार नहीं किया था। आगे चलकर ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ जी ने ध्वनि और रस के साथ अलंकार का संबंध स्पष्ट किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि अलंकार की शोभा बढ़ाकर रस का उपकार करते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ के साथ अलंकार को महत्व दिया गया है। अलंकार की तुलना कटक कुण्डलादि आभूषणों से की तो शरीर के अनित्य धर्म परन्तु शरीर की क्रांति और शोभा निश्चित रूप से बढ़ाते हैं। इसी क्रम में आचार्य जगन्नाथ ने काव्य की रमणीयता बढ़ाने वाले तत्वों में अलंकारों को विशेष स्थान दिया है। अतः रस ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को जो महत्व प्रदान किया और जो मत प्रस्तुत किए, उन्हें संक्षेप में हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. अलंकार काव्यगत शब्दार्थ की शोभा बढ़ाने वाले धर्म हैं।

2. अलंकार शब्दार्थ के अनित्य धर्म हैं।

3. अलंकार शब्दार्थ की शोभा बढ़ाकर रस का भी उपकार करते हैं।

4. अलंकार रस का हमेशा ही उपकार नहीं भी करते हैं।

5. रस ध्वनि के अतिरिक्त अलंकार चित्र-ध्वनि की तो साक्षात् सहायता करते हैं।

अलंकार के स्वरूप और अलंकार सिद्धांत का मूल्यांकन-संक्षेप में अलंकार के स्वरूप और अलंकार सिद्धांत के मूल्यांकन को डॉ. जयनारायण वर्मा ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

1. अलंकारों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

2. अलंकारवादियों ने अंगीभूत रस, भाव रसाभास, भावाभास, भावशबल तथा भावशान्ति को भी, रसवत प्रेयस, उर्जस्वित तथा समाहित आदि अलंकार माना।

3. अलंकारवादियों ने गुणों को भी साधारण अलंकार ही माना।

4. ध्वनि को भी अलंकारवादियों ने प्रकारान्तर से अलंकारों में समाहित करने का निरर्थक • प्रयास किया है।

5. दण्डी ने तो प्रबन्ध काव्य को भी भाविक अलंकार की संज्ञा दी है।

6. नाट्यशास्त्र के सभी सन्धि सन्ध्यागों को अलंकारों में सम्मिलित किया।

काव्य में अलंकारों की महत्ता-इसके उत्तर के लिए कृपया अगले प्रश्न के उत्तर में 'अलंकारों का काव्य में स्थान' शीर्षक का अध्ययन कीजिए।

अलंकारवादियों के दो वर्ग है-पहले वर्ग में अलंकारशास्त्री आते हैं जो अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं और रस, ध्वनि आदि को अलंकार के अन्तर्गत ही मानते हैं। इसके विपरीत दूसरे वर्ग में वे अलंकारशास्त्री आते हैं जो अलंकारों की पृथक सत्ता मानते हैं और रस, ध्वनि आदि की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी हैं जो अलंकारों का महत्व तो स्वीकार करता है, किन्तु साधन रूप में ही। यह वर्ग रस अथवा ध्वनि को प्रमुखता देता है। इस वर्ग को रसवादी अथवा ध्वनिवादी मत कह सकते हैं। अलंकारवादी आचार्य जहाँ काव्य की शोभा का मूल कारक अलंकार को ही मानते हैं और उससे हीन काव्य की कल्पना भी नहीं कर सकते, वहाँ रसवादी अथवा ध्वनिवादी

आचार्य अलंकार को रस-भाव तथा विषम-वस्तु के उत्कर्ष में सहायक तत्व मानते हैं। मम्मट लिखते हैं कि अलंकार के बिना भी कविता उत्कृष्ट कोटि की हो सकती है, वे तो मात्र रसादि के सहायक तत्व है, ठीक वैसे ही हार आदि आभूषण शरीर की शोभा को बढ़ाने वाले (जन्म देने वाले नहीं) होते हैं-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

जहाँ रस नहीं होता, वहाँ अलंकार मात्र उक्ति-वैचित्र्य होकर रह जाता है। अतः वह काव्य को निर्दोष तथा शब्द-गुणों से युक्त मानते हैं। जयदेव आदि अलंकारवादियों ने मम्मट का खण्डन किया और यहाँ तक लिख दिया है-

अंगीकरोति यःकाव्यः शब्दार्थावनलंकृती।

औस न मन्यते कस्मारनुष्णमनलंकृती ॥

अर्थात यदि कोई विद्वान काव्य को अलंकारहीन स्वीकार करने में नहीं हिचकता तो वह अग्नि को भी शीतल स्वीकार क्यों नहीं करता ? लेकिन उनका मत भी विश्वनाथ द्वारा काट दिया गया। उन्होंने अलंकारों का महत्व प्रतिपादित करते हुए तथा उनकी वैज्ञानिक विवेचना करते हुए स्पष्ट लिखा है-

शब्दार्थयोरस्थिर ये धर्माः शोभातिशायनिः।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

अर्थात् काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले जो शब्दार्थ अस्थिर धर्म अलंकार होते हैं, वे उसी प्रकार उपकारक होते हैं, जैसे आभूषण शरीर के। अलंकारों का काव्य में स्थान या महत्व इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि उक्ति-वैचित्र्य या उक्ति-चमत्कार अलंकार है। अब प्रश्न यह है काव्य में क्या सर्वत्र उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है और क्या प्रत्येक उक्ति चमत्कार काव्य होता है ? अलंकारवादी इसका उत्तर स्वीकारात्मक देते हैं, लेकिन रसवादी आचार्य इसका उत्तर निषेधात्मक देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुल्क भी इनकी महत्ता के घोर समर्थन का विरोध करते है। उन्होंने अलंकार की परिभाषा देते हुए स्पष्ट लिखा है- 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण व क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है। यहाँ 'कभी-कभी' शब्दों का प्रयोग अलंकार के प्रयोग को वैकल्पिक ही सिद्ध करता है। रसवादियों ने अलंकार की स्थिति एक सहायक के रूप में स्वीकार की है और अलंकारवादी उसके बिना काव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकारों का अर्थ व्यापक था, वे सौन्दर्य प्रसारक प्रत्येक तत्व को अलंकार मानते थे। वामन ने रीति सिद्धान्त चलाया, फिर भी अलंकारों के प्रति उनकी दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने सौन्दर्य को ही अलंकार माना सौन्दर्यमलंकार इसमें रीति-जनित सौन्दर्य भी समाविष्ट हो जाता है। लेकिन इसके बाद अलंकार का अर्थ संकुचित होने लगा और अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

अलंकारवादी आचार्यों के सामने रस की स्थिति पूर्णतः अस्पष्ट नहीं थी। सौन्दर्य के प्रसारक होने के कारण रस को भी वे अलंकार के अन्तर्गत मानते थे। परवर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन के समान उन्होंने अंगीभूत रसभाव, रसाभास, भावाभास तथा भाव शान्ति को इन नामों से अभिहित न करके उन्हें क्रमशः रसवत, प्रेयस्वत, ऊर्जास्वी और समाहित अलंकार नाम दिया है। किन्तु इन आचार्यों ने अलंकार को जो इतना स्थान दिया है, वह कथमेव सही नहीं है। प्रत्येक सौन्दर्य-प्रसारक वस्तु को अलंकार नहीं कहा जा सकता और दूसरी कुछ वस्तुएँ सौन्दर्य- प्रसरक होती है और कुछ सौन्दर्य की जन्मदात्री होती हैं। रस ऐसी वस्तु है जिससे सौन्दर्य का प्रसार नहीं, जन्म होता है।

काव्य के दो पक्ष होते हैं- भावपक्ष और शैली अथवा कलापक्ष। अलंकार-विधान कहीं- कहीं दोनों का ही उपकारत होता है, पर प्रायः वह शैली पक्ष का ही होता है। यदि अलंकारवादियों के अनुसार, अलंकार को व्यापक अर्थ में लें तो रस की संत्ता विलुप्त-सी होने लगती है। अतः अलंकार बाह्याभ्यन्तर दोनों में स्थित होते हुए भी उसकी काव्य में मुख्य स्थिति बाह्य ही है। अलंकार रसोत्कर्ष में सहायक भले ही हो जाए, रसोत्कर्ष के हेतु

नहीं हो सकते। यही कारण है कि अलंकारों के प्रबल समर्थक जयदेव भी अलंकारों का महत्व सहायक के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने भी ध्वनि और रस का स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया है; क्योकि अलंकार तत्व बाह्य ही है। यद्यपि इससे रमणीयता अवश्य आती है; भावोत्कर्ष में सहायता प्राप्त होती है और कलापक्ष निर्माण में यह बहुत ही उपयोगी तत्व है, किन्तु फिर भी इसे सर्वोपरि स्थान नहीं दिया जा सकता। अलंकारों का स्थान काव्य में मुख्य तत्व रस के सहायक के रूप में ही है।

डॉ. सत्यदेव चौधरी ने अलंकारों को बाह्यपक्ष का अभिव्यक्ति कारक मानकर उसको काव्य की आत्मा-मानने में अस्वीकृति दी हैं। वह यद्यपि अलंकारवादियों को सब तत्वों से परिचित तो स्वीकार करते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति पक्ष और अनुभूति पक्ष- दोनों को मिला देने के कारण वह यह स्वीकार नहीं करते कि अलंकार का स्थान काव्य में सर्वोपरि है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अलंकारों का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है और उनमें काव्य की शोभा में वृद्धि होती है, किन्तु उसकी सार्वभौम सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। अलंकार काव्य की आत्मा-रस के सहायक है, आत्मा नहीं इसीलिए अभिव्यक्ति पक्ष का तत्व होने के कारण अलंकारों का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

1.9 अलंकारों का वर्गीकरण

अलंकारों के वर्गीकरण के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि सर्वप्रथम रुद्रट ने अलंकारों के वर्गीकरण करने का प्रयास किया। उन्होंने अलंकार को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में विभक्त किया पर यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक ही रहा; क्योंकि वह न तो औपम्य के अन्तर्गत सभी सादृश्यमूलक अलंकारों को रख सके और न शब्दालंकारों की ठीक से विभाजित कर सके। उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अलंकार है, उसे उन्होंने 'अतिशय' में रखा और व्यतिरेक को 'वास्तव' के अन्तर्गत। रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया। उन्होंने अलंकारों की सात वर्गों में विभाजित किया-(1) सादृश्य गर्भ, (2) विरोध गर्भ, (3) श्रृंखलाबद्ध, (4) तर्क-न्यायमूलक, (5) काव्य-न्यायमूलक, (6) लोक न्यायमूलक, और (7) गूढार्थ प्रतीतिमूलक। रुद्रट की अपेक्षा रुय्यक का यह वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित है किन्तु इसमें भी अनेक अवैज्ञानिकताएँ हैं। लेकिन विश्वनाथ और पण्डितरात जगन्नाथ तक आते-आते अलंकारों का यह वर्गीकरण काफी व्यवस्थित हो गया। उन्होंने अलंकारों के तीन वर्ग माने हैं और वे ही काफी प्रचलित हुए।

अब हम यहाँ आचार्य सम्मत वर्गीकरणों का व्यवस्थित ढंग से संक्षेप में उल्लेख करेंगे। अलंकार तीन प्रकार के होते हैं- (1) शब्दालंकार, (2) अर्थालंकार और (3) उभयालंकारें।

1. शब्दालंकार-जहाँ उक्ति-चमत्कार शब्द प्रयोग पर आश्रित हो, वहाँ शब्दालंकार होता है। रचयिता जहाँ ऐसे वर्षों अथवा शब्दों का प्रयोग करता है, जिनमें शब्द चमत्कार सौन्दर्य उत्पन्न हो जाए, वहाँ शब्दालंकार होता है। प्रमुख शब्दालंकार हैं- अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदासभास, वीप्सा, ध्वनि-चित्र या ध्वन्यर्थ व्यंजना।

2. अर्थालंकार-जहाँ अर्थ में चमत्कार उत्पन्न हो, वहाँ अर्थालंकार होता है। अर्थालंकार के लिए शब्दों के समान प्रयोग का कोई महत्व नहीं है। चमत्कार शब्दार्थ पर आधृत होता है, शब्द पर नहीं।

अर्थालंकार के यों तो सैकड़ों भेद किए जा सकते हैं, किन्तु मुख्य रूप से इनका विभाजन छह वर्गों में किया जा सकता है-

(क) सादृश्यमूलक अर्थालंकार इस समानतामूलक (उपमामूलक) भी कह सकते हैं। इस प्रकार के अलंकारों में मूलतः उपमेय और उपमान की समानता का भाव रहता है। इसके अनेक रूप हैं और इन अलंकारों का महत्व भी सर्वाधिक है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नति, सन्देह, भ्रम, उल्लेख, अन्योक्ति, समासोक्ति, प्रतीप, दृष्टान्त आदि इसी वर्ग में आते हैं। इसके भी अनेक उपभेद किए जा सकते हैं, यथा-

(1) तुलनात्मक-उपमा, अनन्वय, व्यतिरेक।

(ii) अभेदपरक रूपक, अपहृति आदि।

iii) सम्भावनापरक-उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि। (

(iv) अन्योक्तिपरक अन्योक्ति, समासोक्ति आदि।

(ख) विरोधमूलक अर्थालंकार-जिन अलंकारों में रचयिता के कथन में परस्पर विरोध का आभास हो, पर विरोध न हो और इस विरोध-दर्शन से एक नवीन अर्थ-चमत्कार उत्पन्न

हो, वहाँ विरोधमूलक अंलंकार होते हैं। इस वर्ग में विरोधाभास और उसके शैली-भेद में असंगति, विभावना, विशेषोक्ति, विषम आदि अलंकार भी आते हैं।

(ग) श्रृंखलामूलक अर्थालंकार-जिन अलंकारों में वस्तुओं का क्रमबद्ध रूप में वर्णन हो ओर इस वर्णन से चमत्कार उत्पन्न हो, वे अलंकार श्रृंखलामूलक होते हैं। एकावली, सार आदि अलंकार इसी वर्ग में आते हैं।

(घ) गुणमूलक अर्थालंकार-गुणावगुण अथवा विशेषता का विभिन्न प्रकार के वर्णन • करने वाले अलंकार गुणमूलक अर्थालंकार कहलाते हैं। इस वर्ग में तद्गुण, अतद्गुण, परिसंख्या, अनुज्ञा, तिरस्कार, विनोक्ति, परिकर आदि अलंकार आते हैं।

(ङ) अतिशयोक्तिपरक अर्थालंकार- जिन अलंकारों में किसी बात को सीमा से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाए, वे अलंकार अतिशयोक्तिपरक होते हैं। इस वर्ग का प्रधान अलंकार अतिशयोक्ति है और उसके शैली-भेद से उत्पन्न सम्बन्धातियोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति आदि अलंकार भी इसी वर्ग के अन्तर्गत परिगणित किए जाते हैं।

(च) व्यंग्यार्थमूलक अर्थालंकार-वाक्य के स्थान पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले अलंकार इसी वर्ग में आते हैं। पर्यायोक्ति, व्यंग्योक्ति, व्याजस्तुति आदि अलंकार इस वर्ग में रखे जा सकते हैं।

3. उभयालंकार-जहाँ कवि की उक्ति में शब्दालंकार और अर्थालंकार इस प्रकार घुले-मिले हों कि पृथक न हो सकें, वहाँ उभयालंकार होते हैं। संकर, संसृष्टि आदि ऐसे ही अलंकार हैं।

पाश्चात्य वर्गीकरण - 'ऑक्सफोर्ड एनसाइक्लोपीडिया' में अलंकारों को आठ भागों में विभक्त किया गया है-तुलनात्मक अलंकार, नामविपर्यय युक्त अलंकार, विषमतामूलक अलंकार, अतिशयोक्तिपरक अलंकार, प्रश्नोत्तर रूप अलंकार, विपर्यय मूलक अलंकार, शब्द- वैचित्र्यपरक अलंकार और क्रमवैचित्र्यपरक अलंकार । भारतीय और पाश्चात्य वर्गीकरण में पर्याप्त साम्य है। इसमें से शब्द वैचित्र्यपरक अलंकार शब्दालंकार ही समझने चाहिए। तुलनात्मक अलंकार समतामूलक अर्थालंकार, विषमतामूलक अलंकार, विरोधमूलक अलंकार समझे जाने चाहिए। प्रश्नोत्तर रूप अलंकार का साम्य तर्कमूलक अलंकारों से हो जाता है और क्रम वैचित्र्यपरक अलंकार स्पष्ट ही श्रृंखलामूलक अलंकार हैं। इस प्रकार अलंकारों का वर्तमान पाश्चात्य और भारतीय विभाजन परस्पर पर्याप्त क्षमता रखता है।

1.10 सारांश

रस निष्पत्ति का सूत्र है-विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः जिसका अर्थ है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। रस निष्पत्ति कहाँ होती है तथा संयोग और निष्पत्ति शब्द के अर्थ क्या है? इस पर संस्कृत काव्यशास्त्र के चार आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का हमने अध्ययन किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के चार आचार्यों के मत का संक्षेप इस तालिका से समझा जा सकता है-साधारणीकरण काव्यास्वाद की प्रक्रिया है जिससे असाधारण, साधारण हो जाता है। पात्र की विशिष्टता का लोप हो जाता है और दर्शक या पाठक भी मैं और ममेतर से मुक्त हो जाता है। इसी दशा में रस का अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण मानते हैं। सहृदय का विभावादि से संबंध 'साधारण रहता है। स्थायी भाव से साधारणीकरण का अभिप्राय देश-काल के बंधन और व्यक्ति संसर्ग से मुक्ति है। अभिनव गुप्त के यहाँ सामूहिक साधारणीकरण की भी परिकल्पना है। आचार्य विश्वनाथ साधारणीकरण के सिद्धांत में

आश्रय के साथ प्रमाता का अभेद स्वीकार करते हैं। पंडितराज जगन्नाथ 'आश्रय के साथ प्रमाता का अभेद के सिद्धांत को 'दोष-विशेष के साथ स्वीकार करते हैं।

काव्यशास्त्र के चार आचार्यों के मत का संक्षेप इस तालिका से समझा जा सकता है- साधारणीकरण काव्यास्वाद की प्रक्रिया है जिससे असाधारण, साधारण हो जाता है। पात्र की विशिष्टता का लोप हो जाता है और दर्शक या पाठक भी मैं और ममेतर से मुक्त हो जाता है। इसी दशा में रस का अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण मानते हैं। सहृदय का विभावादि से संबंध 'साधारण रहता है। स्थायी भाव से साधारणीकरण का अभिप्राय देश-काल के बंधन और व्यक्ति संसर्ग से मुक्ति है। अभिनव गुप्त के यहाँ सामूहिक साधारणीकरण की भी परिकल्पना है। आचार्य विश्वनाथ साधारणीकरण के सिद्धांत में आश्रय के साथ प्रमाता का अभेद स्वीकार करते हैं। पंडितराज जगन्नाथ 'आश्रय के साथ प्रमाता का अभेद के सिद्धांत को 'दोष-विशेष के साथ स्वीकार करते हैं।

1.11 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

1) रस निष्पत्ति क्या है? भट्टनायक द्वारा की गई व्याख्या की चर्चा कीजिए।

2)साधारणीकरण के सदर्भ में अभिनवगुप्त के मत की विवेचना कीजिए।

3)आचार्य विश्वनाथ द्वारा साधारणीकरण की व्याख्या पर विचार कीजिए।

4) पंडित राज जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत साधारणीकरण संबंधी मत की विवेचना कीजिए।

5) साधारणीकरण का आशय स्पष्ट कीजिए।

1.12 पठनीय पुस्तकें

रस सिद्धांत, डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

भारतीय काव्यशास्त्र मूल समस्याएँ संपादक कृष्णबल, राधाकृष्ण प्रकाशन।।

भारतीय काव्यशास्त्र डॉ. तारकनाथ बाला, वाणी प्रकाशन।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान, प्रो हरिमोहन, वाणी प्रकाशन।

साधारणीकरण और सौंदर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धांत, डॉ. प्रेमकांत टंडन, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद।

चिंतामणि भाग-1. रामचंद्र शुक्ल, इंडियन प्रेस पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

रस विमर्श, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।

इकाई-2

रीति सिद्धांत : रीति की अवधारणा, काव्य गुण , रीति एवं शैली. रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं
वक्रोक्ति सिद्धांत: वक्रोक्ति की अवधारणा , वक्रोक्ति के भेद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद।

रूप रेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 शब्द संपदा
2.4 'रीतिरात्मा काव्यस्य'
2.5 वक्रोक्ति सिद्धान्त वक्रोक्ति की अवधारणा
2.6 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना
2.7 सारांश
2.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न
2.9 पठनीय पुस्तकें

2.1 प्रस्तावना

काव्य रचना-प्रक्रिया भाषा के माध्यम से चलती है। हमारा समूचा जीवन व्यवहार ही भाषा के माध्यम से परिचालित होता है। रोजमर्रा की प्रचलित भाषा हमें विरासत में उपलब्ध होती है और इसी भाषा सामग्री को हम अपने अनुभव, विचार आदि को दूसरों तक संप्रेषित करने के लिए उपयोग में लाते हैं। लोक व्यवहार में प्रचलित विरासत में मिली इसी भाषा का प्रयोग कवि भी अपनी काव्य रचना में करता है। अपनी रचना प्रक्रिया के क्रम में कवि इस भाषा के विन्यास को किसी विशिष्ट संवेदना या अनूभूति की अभिव्यक्ति के लिए किंचित तोड़-फोड़ देता है। इस तोड़-फोड़ से भाषा के पद या पद-समूह किन्हीं विशिष्ट अर्थवक्ताओं से प्रदीप्त हो उठते हैं और उनमें सौंदर्य और रमणीयता उत्पन्न हो जाती है। कवि के लिए भाषा के रूप का नहीं उसके स्वरूप का महत्व होता है। किसी खास संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट पद रचना द्वारा प्रचलित भाषा के स्वरूप में हुए परिवर्तन से उत्पन्न अर्थ और उस खास संवेदना का पाठकों तक सप्रेषण और समान उद्दीपन रचना प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने कवि की अनुभूति को विशिष्ट पद-रचना द्वारा अभिव्यक्त करने के इस क्रम को मार्ग या रीति की संज्ञा दी है। पाश्चात्य काव्य चिन्तन में इसे ही शैली (Style) की संज्ञा दी गयी है।

काव्य रचना की इस रीति का अध्ययन रीति सम्प्रदाय में किया गया है। रीति-सिद्धान्त-सम्बन्धी चर्चा करने वाला शास्त्र ही रीतिशास्त्र है। रीति सम्प्रदाय की परम्परा हिंदी को संस्कृत काव्यशास्त्र से प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पाठ में हम रीति सम्प्रदाय की अवधारणा और उसके विभिन्न आयामों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

2.2 उद्देश्य

- रीति सम्प्रदाय की अवधारणा के बारे में जान सकेंगे,
- रीति निरूपण एवं रीति के आयामों के बारे में जान सकेंगे,
- रीति शब्द का अभिप्राय और प्रमुख रीति समर्थक आचार्यों के बारे में जान सकेंगे,
- रीति और गुण के सम्बन्ध और काव्य गुण के प्रकारों को जान सकेंगे, और
- रीति के विभिन्न प्रकारों के बारे में बता सकेंगे।

2.3 शब्द संपदा

- प्रसाद- 'शैथिल्यं प्रसादः अर्थात् रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है।

- श्लेष 'मसृणत्वं श्लेषः' अर्थात् मसृणत्व या कोमलता को श्लेष कहते हैं।
- समता- मागभिदः समता' अर्थात् मार्ग का अभेद या शैली की एकरूपता ही समता गुण है।
- समाधि- 'आरोहाऽवरोहक्रमः समाधिः' अर्थात् शैली में उतार-चढ़ाव ही समाधि है।
- माधुर्य- पृथक्पदत्वं माधुर्यम् अर्थात् शब्दों की पृथकता ही माधुर्य गुण है।
- सौकुमार्यम्- 'अजरठत्वं सौकुमार्यम' अर्थात कठोरता का अभाव ही सौकुमार्य है।
- उदारता- 'विकटत्वमुदारता' अर्थात् रचना शैली की विकटता ही उदारता है।
- अर्थ-व्यक्ति 'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः' अर्थात यह गुण जिसमें अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, अर्थ व्यक्ति कहलाता है।
- कान्ति- 'औज्ज्वल्य कान्तिः' अर्थात् रचना शैली की उज्ज्वलता या नवीनता का नाम ही कान्ति है।

2.4 'रीतिरात्मा काव्यस्य'

उत्तर- 'रीति' शब्द का अर्थ-गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर 'रीति' शब्द निष्पन्न हुआ है। अतः इसका अर्थ मार्ग या पद्धति है। काव्य के क्षेत्र में इसे काव्य मार्ग कहा जाएगा; किन्तु विचित्र बात है कि रीति का अभिधेय अर्थ स्वयं 'रीति' शब्द के प्रयोग की अपेक्षा अधिक पुराना है और काव्य के क्षेत्र में अपने विभिन्न वाचक शब्दों के साथ 'रीति' से पहले ही प्रचलित था। 'रीति' शब्द के प्रयोक्ता आचार्य वामन हैं पर उनसे पहले ही रीति-सिद्धान्त की मान्यता भामह और दण्डी के यहाँ मार्ग नाम से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वास्तव में अन्य अनेक सिद्धान्तों की भाँति रीति सिद्धान्त का भी प्रवर्तन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। भरत ने देश-प्रदेश की वेषभूषा और रहन-सहन को दृष्टि में रखते हुए अभिनव के प्रसंग में चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जिनके नाम हैं, आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमानवी और पांचाली। आवन्ती भारत के पश्चिम भाग की, दाक्षिणात्या भारत के दक्षिण भाग की, औड्रमागधी भारत के उड़ीसा तथा मगध प्रदेश की तथा पांचाली भारत के मध्यप्रदेश की प्रवृत्ति कहलाती है। यह भू-भाग के आधार पर किया गया काव्य प्रवृत्तियों का विचार था जो रीति सिद्धान्त के लिए भी प्रस्थान-बिन्दु का काम करता है। संस्कृत साहित्य में रीति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। सर्वप्रथम रीति शब्द ऋग्वेद में स्तुति के अर्थ में आया है। अनेक साहित्य शास्त्रियों ने अपने-अपने मतानुसार रीति के अनेक पक्षों का प्रतिपादन किया है। जहाँ अन्य विद्वानों ने रीति की व्यवस्था में सीमित अर्थ को ग्रहण किया, वहीं पर आचार्य वामन ने व्यापक भूमिका पर रीति को प्रस्तुत किया। वामन का रीति विवेचन अपने कलेवर में अन्य अनेक सिद्धान्तों को समेट कर चलता है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ- 'रीतिरात्मा काव्यस्य' उक्ति आचार्य वामन की है। इसका अर्थ है रीति ही काव्य की आत्मा है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहकर उसके प्राणद स्वरूप की विवेचना की है। इस स्वरूप में विशिष्ट पद रचना से लेकर 'विशेषोगुणात्मा' तक की स्थिति का समाहार कर लिया गया है। दण्डी और कुन्तक ने रीति को मार्ग के अर्थ में प्रयोग किया है। ध्यान देने की बात यह है कि रीति मात्र शैली का पर्यायवाची नहीं है। आनन्दवर्द्धन ने रीति को 'पद संघटना' और 'राजशेखर' ने इसे 'वचन-विन्यास क्रम' व आचार्य मम्मट ने 'नियत वर्षों' के व्यापार को रीति कहा है। इन सभी कथनों और मान्यताओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। सुन्दर-पद रचना करने की कला ही रीति है। ऐसी स्थिति में केवल 'वामन' का कथन ही विशिष्ट प्रतीत होता है। काव्यात्मा रीति-आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है। इसे काव्यात्मा प्रमाणित करने के लिए उन्होंने पद रचना की। इस विशिष्टता का आधार उसका गुण सम्पन्न होना बतलाया है। वामन की दृष्टि में गुण वे हैं जो शब्दार्थ सहित होने के कारण काव्य सौन्दर्य का निर्माण करते हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार काव्य सौन्दर्य का निर्माण करते हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार काव्य सौन्दर्य के निर्णायक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशेष प्रकार की पद रचना की रीति है। यही काव्य की आत्मा है। वामन ने इसे काव्यात्मा इसीलिए कहा है कि वह गुणों के आश्रित है। गुण दो दे प्रकार के होते हैं-शब्द, गुण और अर्थ गुण। शब्दगुणों का आधार प्राय सभी वर्ण योजना, पदबन्ध अथवा शब्द बन्ध का चमत्कार है और अर्थ गुणों का आधार अर्थ सौन्दर्य है। उदारता, सौकुमार्य, समाधि औज के रूप में लक्षणा व्यंजना का चमत्कार है-अर्थ व्यक्ति में स्वाभाविकता का, क्रान्ति में रस का और माधुर्य में विदग्धता का व श्लेष में गोपन क्रिया चातुर्य का सौन्दर्य रहता है। वामन के अर्थ गुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार और शब्द शक्ति के भावात्मक सौन्दर्य का और दोषाभाव के कारण अभावात्मक सौन्दर्य का समावेश हुआ है। जब वामन रीति शब्द और अर्थ के आश्रित गुणों, रसों व ध्वनियों आदि सभी का समाहार है तो फिर उसे काव्य की आत्मा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी भावना के कारण आचार्य वामन यह कह उठे थे कि "रीतिरात्मा

काव्यस्य" अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है। जब वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं तो उससे यही स्पष्ट होता है कि वे काव्य में उसे सर्वोपरि मानते हुए महत्व देना चाहते हैं। यह महत्व प्रतिपादन निम्नांकित कारणों से भी स्पष्ट और महत्वपूर्ण प्रमाणित हो जाता है- रीति गुणाश्रित है। उसमें शब्द और अर्थ दोनों ही गुणों का समावेश रहता है। 1 2. वामन की रीति मात्र शैली नहीं हैं, उसमें काव्य के प्राण तत्व भी विद्यमान हैं।

3 रीति सिद्धान्त में अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस और औचित्य सभी शामिल हैं। 4. रीति सिद्धान्त में रस को भी स्वीकृति प्राप्त है। रीति गुणों के आश्रित हैं और गुण रस की पूर्व स्थिति है तथा रस गुण की उत्तरावस्था है।

5 कुन्तक के अनुसार रीति-कवि मार्ग है और वक्रोक्ति कवि कर्म। इस दृष्टि से रीति वक्रोक्ति का ही एक अंग मात्र है। स्पष्ट है कि रीति सिद्धान्त अपनी व्यापकता में प्रायः सभी काव्य सिद्धान्तों को साथ लेकर चला है। अतः उसकी व्यापकता के कारण भी उसे काव्यात्मा माना जा सकता है। रीति के भेद विषयक मत-रीति के भेदों के सम्बन्ध में मतभेद और विवाद काफी रहा है। इसी का परिणाम है कि रीति के भेदों में समय-समय पर विस्तार भी होता रहा है और परिवर्तन भी। भामह और दण्डी ने रीति के दो भेद स्वीकार किए हैं। वामन ने इनकी संख्या तीन मानी है-वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। 'रुद्रट' ने एक चौथी रीति लाटीया को भी जोड़ दिया है। राजशेखर थोड़ा आगे बढ़े। परिणामतः उपर्युक्त चार रीतियों में मगधी और मैथिली भी जोड़ दी गयी। इस प्रकार रीति के छः भेद स्वीकार कर लिए गए। अलंकार 'शेखर' में यह उल्लेख है कि मैथिली मागधी का ही एक रूप थी। आनन्दवर्द्धन और मम्मट ने प्रायः वामन द्वारा संकेतित

तीन रीतियों को स्वीकार किया है। रीति का आन्तरिक आधार जब गुण ही है तो तीन ही रीतियों को स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। ओज, माधुर्य और प्रसाद के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति को ही स्वीकार करना चाहिए। मनोविज्ञान के अनुसार भी कोमल व परुष दो भेद होते हैं। एक तीसरा भेद 'प्रसन्न' है। वर्ण भी तीन प्रकार के होते हैं- कोमल, परुष और तीसरे वे जो न पूरी तरह कोमल हैं और न पूरी तरह परुष। स्पष्ट है कि इन सभी कारणों व प्रमाणों से रीतियाँ तीन ही हैं। इनके अलावा रीतियों के भेद अनावश्यक हैं। डॉ नगेन्द्र ने वैदर्भी और गौड़ी को ही पर्याप्त माना है। वे पांचाली की कल्पना को भी व्यर्थ मानते हैं। मम्मट की वृत्तियाँ भी तीन ही हैं।इस प्रकार वामन के अनुसार काव्य सौन्दर्य का निर्माण करते हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार काव्य सौन्दर्य के निर्णायक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशेष प्रकार की पद रचना की रीति है। यही काव्य की आत्मा है। वामन ने इसे काव्यात्मा इसीलिए कहा है कि वह गुणों के आश्रित है। गुण दो दे प्रकार के होते हैं-शब्द, गुण और अर्थ गुण। शब्दगुणों का आधार प्राय सभी वर्ण योजना, पदबन्ध अथवा शब्द बन्ध का चमत्कार है और अर्थ गुणों का आधार अर्थ सौन्दर्य है। उदारता, सौकुमार्य, समाधि औज के रूप में लक्षणा व्यंजना का चमत्कार है-अर्थ व्यक्ति में स्वाभाविकता का, क्रान्ति में रस का और माधुर्य में विदग्धता का व श्लेष में गोपन क्रिया चातुर्य का सौन्दर्य रहता है। वामन के अर्थ गुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार और शब्द शक्ति के भावात्मक सौन्दर्य का और दोषाभाव के कारण अभावात्मक सौन्दर्य का समावेश हुआ है। जब वामन रीति शब्द और अर्थ के आश्रित गुणों, रसों व ध्वनियों आदि सभी का समाहार है तो फिर उसे काव्य की आत्मा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी भावना के कारण आचार्य वामन यह कह उठे थे कि "रीतिरात्मा काव्यस्य" अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है। जब वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं तो उससे यही स्पष्ट होता है कि वे काव्य में उसे सर्वोपरि मानते हुए महत्व देना चाहते हैं। यह महत्व प्रतिपादन निम्नांकित कारणों से भी स्पष्ट और महत्वपूर्ण प्रमाणित हो जाता है-

. रीति गुणाश्रित है। उसमें शब्द और अर्थ दोनों ही गुणों का समावेश रहता है। 1 2. वामन की रीति मात्र शैली नहीं हैं, उसमें काव्य के प्राण तत्व भी विद्यमान हैं।

3 रीति सिद्धान्त में अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस और औचित्य सभी शामिल हैं।

4. रीति सिद्धान्त में रस को भी स्वीकृति प्राप्त है। रीति गुणों के आश्रित हैं और गुण रस की पूर्व स्थिति है तथा रस गुण की उत्तरावस्था है।

5 कुन्तक के अनुसार रीति-कवि मार्ग है और वक्रोक्ति कवि कर्म। इस दृष्टि से रीति वक्रोक्ति का ही एक अंग मात्र है। स्पष्ट है कि रीति सिद्धान्त अपनी व्यापकता में प्रायः सभी काव्य सिद्धान्तों को साथ लेकर चला है। अतः उसकी व्यापकता के कारण भी उसे काव्यात्मा माना जा सकता है। रीति के भेद विषयक मत-रीति के भेदों के सम्बन्ध में मतभेद और विवाद काफी रहा है। इसी का परिणाम है कि रीति के भेदों में समय-समय पर

विस्तार भी होता रहा है और परिवर्तन भी। भामह और दण्डी ने रीति के दो भेद स्वीकार किए हैं। वामन ने इनकी संख्या तीन मानी है-वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। 'रुद्रट' ने एक चौथी रीति लाटीया को भी जोड़ दिया है। राजशेखर थोड़ा आगे बढ़े। परिणामतः उपर्युक्त चार रीतियों में मगधी और मैथिली भी जोड़ दी गयी। इस प्रकार रीति के छः भेद स्वीकार कर लिए गए। अलंकार 'शेखर' में यह उल्लेख है कि मैथिली मागधी का ही एक रूप थी। आनन्दवर्द्धन और मम्मट ने प्रायः वामन द्वारा संकेतित तीन रीतियों को स्वीकार किया है। रीति का आन्तरिक आधार जब गुण ही है तो तीन ही रीतियों को स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। ओज, माधुर्य और प्रसाद के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति को ही स्वीकार करना चाहिए। मनोविज्ञान के अनुसार भी कोमल व परुष दो भेद होते हैं। एक तीसरा भेद 'प्रसन्न' है। वर्ण भी तीन प्रकार के होते हैं- कोमल, परुष और तीसरे वे जो न पूरी तरह कोमल हैं और न पूरी तरह परुष। स्पष्ट है कि इन सभी कारणों व प्रमाणों से रीतियाँ तीन ही हैं। इनके अलावा रीतियों के भेद अनावश्यक हैं। डॉ नगेन्द्र ने वैदर्भी और गौड़ी को ही पर्याप्त माना है। वे पांचाली की कल्पना को भी व्यर्थ मानते हैं। मम्मट की वृत्तियाँ भी तीन ही हैं। वैदर्भी रीति-यह रीति माधुर्य पर आश्रित है। वामन ने इसे समस्त गुणों से युक्त माना है। इसमें सुकोमल वर्ण व माधुर्य की मात्रा होती है। गौड़ी रीति-वामन के अनुसार गौड़ी में ओज और क्रान्ति गुणों की प्रधानता होती है। इसमे दीर्घ समासों की प्रधानता होती है है तथा यह रौद्र, भयानक व लिए सर्वथा उपादेय मानी गयी है। वीर रस की अभिव्यंजना के पांचाली-इस रीति की कल्पना पहले-पहल आचार्य वामन ने की थी। उनके हिसाब से पांचाली में ओज, क्रान्ति का अभाव और माधुर्य व सुकुमारता का सद्भाव रहता है। यह लघु समासों पर आधारित होती है और श्रृंगार व प्रेम भाव के उपयुक्त होती है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि रीति विशिष्ट पदों की संघटना का नाम है। यह काव्य की आत्मा के रूप में सर्वस्वीकृति भले ही न हो पाई हो, किन्तु काव्यशास्त्र का अप्रतिम व महत्वपूर्ण सिद्धान्त अवश्य है। इसके प्रमुख भेद तीन है। शेष भेदों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन भेदों में हो जाता है।

रीति की विशेषताएँ-रीति के स्वरूप और उसकी विशेषताओं को समझने के लिए रीति के तत्वों को जानना भी आवश्यक है। वामन तथा अन्य आचार्यों ने गुण को रीति के नियामक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। दण्डी ने दस गुणों को माना है, स्वयं वामन का यह कहना कि विशेषोगुणात्मा इस बात का प्रतीक है कि रीति सिद्धान्त का आधारभूत तत्व गुण है। दण्डी ने भी गुणों को स्वीकार किया है। उसने दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण तत्व स्वीकार किया है। उसके मूल शब्द इस प्रकार हैं- 'यति वैदर्भ मार्गस्य प्राण दर्शगुणाः स्मृताः" इससे यह निष्कर्ष आसानी से प्राप्त हो जाता है कि रीति सिद्धान्त गुणों की आधार भूमि पर प्रतिष्ठित है। वामन ने स्वयं ही 'विशेषोगुणात्मा' कहकर गुणों को ही रीति के मूल तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। गुणों की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की है। दण्डी के अनुसार गुण काव्य के शोभा विधायक धर्म हैं। वामन ने भी काव्य के शोभाकारक धर्म गुणों को माना है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने गुणों का लक्षण निरूपित करते हुए कहा है कि अंगीरूप रस के आश्रित रहने वाले धर्म गुण है- "तमर्थमलम्वते वेडडिनांते गुणाः स्मृताः" आगे चलकर मम्मट ने काव्य गुण का स्पष्ट लक्षण दिया है। उन्होंने लिखा है- "रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौयार्ददयो यथा गुणाः" अर्थात् आत्मा के शौर्य आदि गुणों की भांति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी स्थिर धर्म गुण कहलाते हैं। इनसे यह स्पष्ट होता है कि सभी आचार्यों की दृष्टि में गुण काव्य को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। अतः सुनियोजित शब्दावली में गुण की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है- "गुण काव्य के वे उत्कर्ष साधन तत्व हैं जो मुख्य रूप से प्राणभूत रस के और गोणरूपै से शरीरभूत शब्दार्थ के नित्यधर्म हैं।" इसी भूमिका पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वामन ने शब्दगुण और अर्थगुणों की सत्ता को स्वीकार किया है। वामन के अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अलंकार, शब्द शक्ति का भावात्मक सौन्दर्य और दोषाभाव का अभावात्मक सौन्दर्य विद्यमान रहता है। अतः वामन के मतानुसार रीति के वहिरंग तत्वों में शब्दगुम्फ और अन्तरंग तत्वों के गुण, रस और ध्वनि को स्थान प्राप्त है। समास-वामन के पश्चात् रुद्रट ने समास को रीति का मूल तत्व माना है। उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के आधार पर पांचाली, लाटिया और गौड़िया रीतियों की कल्पना की है। रस व माधुर्य-आनन्दवर्द्धन ने रस को और माधुर्य को रीर्ति का मूलतत्व स्वीकार किया है। ओज, प्रसाद और माधुर्य ही आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में रीति के मूल तत्व है अनुप्रास और समास-राजशेखर ने मौलिकता से काम लेते हुए समास और अनुप्रास दोनों को रीति के तत्वों में स्वीकार किया है। 'भोज' ने भी 'राजशेखर' का ही अनुगमन और अनुसरण किया है। 'अग्निपुराण' में रीति के ये मूल तत्व माने हैं- समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलंकार) और मार्दव की मात्रा। वर्ण-संयोजना और शब्दगुम्फ-आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वर्ण-संयोजन और

शब्दगुम्फ दोनों ही रीति के मूल तत्वों में आते हैं। इन्होने गुण और वर्ण-योजना का नियत सम्बन्ध स्वीकार किया है। रसाभिव्यंजन में भी रीति पर्याप्त सहायक होती है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है।

काव्य का मूल तत्व भाव है, किन्तु उसे काव्य का स्वरूप प्रदान करने तथा संवेद्य बनाने का कार्य रीति ही करती है। ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में रीति की अपेक्षा, ध्वनि को ही अधिक महत्व दिया है, किन्तु उन्होंने भी रीति का महत्व स्वीकार करके उसका ध्वनि के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी रीति को कवि स्वभाव के साथ सम्बद्ध करके उसकी महत्ता स्वीकार की है। इससे स्पष्ट होता है कि रीति की अनेक विशेषताएँ हैं और उसका महत्व अप्रत्याशित है।

काव्यशास्त्री दृष्टि से रीतियों का विवेचन पहले पहल भामह के 'काव्यालंकार' में उपलब्ध होता है। यद्यपि उन्होंने 'रीति', 'मार्ग' या 'वर्म' शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने काव्य- भेदों में 'वैदर्भ' और गौड़ीय का निर्देश किया है। उनके समय में 'वैदर्भ' और 'गौड़ीय' ये दो मार्ग ही प्रचलित थे। बाणभट्ट के समय में हमें चार साहित्यिक पद्धतियों का परिचय मिलता है। ये पद्धतियाँ भी उदीच्य, दाक्षिणात्य तथा गौड़। (बाण 7वीं शताब्दी ई.) का कथन है कि उदीच्य् (उत्तर के) लोग क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रतीच्य् (पश्चिम के) लोग केवल अर्थ को पसन्द करते हैं, दक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा के प्रति विशेष आदर दृष्टिगत होता है और गौड़ीय (पूर्व के) कवियों में केवल वर्णों का आडम्बर दिखाई देता है। इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बताने में समर्थ होता है। दण्डी ने 'रीति के लिए मार्ग' तथा 'वर्म' शब्दों का व्यवहार किया। उन्होंने वैदर्भ तथा गौड़ीय भागों का विवेचन करते हुए उनके भौगोलिक महत्व को स्वीकार किया है और रीति के आधारभूत दस काव्यों गुणों का विशद विवेचन किया है। दण्डी द्वारा गिनाये गये दस गुण हैं- श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। ये ही दण्डी के अनुसार वैदर्भ-मार्ग के प्राण हैं।

रीति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन आठवीं शताब्दी ई. ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर 'रीति' को काव्य का सारभूत तत्व माना। उन्होंने काव्य के स्वरूप लक्षण का निर्देश करते हुए लिखा है कि काव्य की उपादेयता अलंकारों के कारण ही होती है 'काव्य ग्राह्यम लंकारात्।' इसी के आगे वे अलंकार की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि सौन्दर्य ही अलंकार है। 'सौन्दर्यमलंकार' और उसका सम्पादन दोषों के परिहार तथा गुणों (काव्य गुणों) और अलंकारो (काव्यालंकारों) के ग्रहण से होता है। 'स दोषगुणालंकारहानादानाम्याम्।'

वामन ने गुणों को शब्दगुण और अर्थ गुण के द्विविध रूपों में स्वीकार कर एक नयी प्रतिष्ठापना की थी। उन्होंने शब्दगुणों को बन्ध का अनिवार्य गुण माना तथा अर्थ गुणों के विशाल

साम्राज्य के अन्तर्गत रस तक को सन्निविष्ट किया। 'रीति' को वामन की महत्वपूर्ण देन है- 'पांचाली' नाम की तृतीय रीति की कल्पना। वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने केवल दो मार्ग (रीतियाँ) माने थे। गौड़ और वैदर्भ। वामन ने एक तृतीय रीति (पांचाली) की कल्पना द्वारा रीतियों की संख्या तीन कर दी। इस प्रकार अब वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली ये तीन रीतियाँ मानी जाने लगीं। इसी प्रकार इसी प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि भरत ने गुणों को स्वतन्त्र भाव रूप न मानकर दोषाभाव रूप माना था, वामन ने गुणों को भावरूप मानकर उनके स्वतन्त्र रूप को मान्यता प्रदान की। उन्होंने दोषों को गुणों का पर्याय माना तथा दोनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया।

विशिष्ट पद रचना रीति का अर्थ-रीति सिद्धान्त प्रतिष्ठापक वामन से पूर्व भी काव्यमार्ग के नाम से रीति से अभिप्राय विशिष्ट पद रचना था और वामन ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा- "विशिष्ट पद रचना रीतिः ।" उनके अनुसार पद रचना की विशिष्टता का आधार गुण है- "विशेषो गुणात्मा।" विशेष गुणों के प्रयोग से पद रचना होती है। रीति-शैली में विशिष्टता आती है। गुणों को वामन ने काव्य-शोभाकारक कहा। अतः वामन की रीति सम्बन्धी परिभाषा हुई- "गुणयुक्त (सुन्दर) रचना।" वामन ने गुणों को केवल वर्ण-विन्यास तक ही सीमित नहीं रखा अपितु गुणों का स्वरूप इतना व्यापक कल्पित किया कि उनके भीतर अलंकार, रस, शब्द शक्ति, आदि सब तत्वों को समाविष्ट कर लिया। इस दृष्टि से वामन की रीति-धारणा पद रचना के प्रसाधनों-वर्ण विन्यास, शब्द प्रयोग, अलंकरण, वाक्य, छन्द रचना, लक्षणा-व्यंजना आदि अभिव्यक्ति के तत्वों तक ही सीमित न रहकर रस ध्वनि आदि अन्तरंग तत्वों को भी छूती है। वामन ने रीति को काव्यात्मा कहकर (रीतिरात्मा काव्यस्य) उसे सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है।

परन्तु अलंकारवादियों की तरह रीतिवादी वामन का रीति को काव्यात्मा की प्रतिष्ठा प्रदान करने का प्रयास विफल रहा। उनकी 'पदरचना' काव्य के अन्तरंग तत्वों को अपने में नहीं समेट सकी। स्वयं वामन की दृष्टि बाह्यपरक रही। रस, भाव, विचार, जीवन-दर्शन, नीति, अन्य सांस्कृतिक मूल्यों और तत्वों का विनियोग वे अपनी रीति से नहीं कर सके। सच तो यह है कि रस भाव आदि को भी उन्होंने अलंकारवादियों की तरह सौन्दर्य का एक साधन मानकर रीति का उपकारक समझ लिया। उनकी दृष्टि रीति पर ही केन्द्रित रही और तीन रीतियों (वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली) की स्थापना करके उन्होंने कवियों को आदेश दिया है कि उन्हें वैदर्भी रीति का ही पालन करना चाहिए क्योंकि उसमें सब गुण विद्यमान रहते हैं।

रीति को एक काव्य सम्प्रदाय मानने की भ्रान्त परम्परा प्रचलित है। वास्तव में वामन द्वारा प्रतिष्ठित रीति एक सिद्धान्त है। न तो वामन के ही समय में और न बाद में उनका कोई विशेष अनुयायी हुआ। रीति की कला जीवित रूप में महत्ता किसी और आचार्य ने स्वीकार नहीं की। अतः रीति को एक सम्प्रदाय सिद्धान्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि वामन ने अपने रीति-सिद्धान्त का प्रतिपादन इतने जोरदार शब्दों में किया कि वह आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय सर्वत्र हुआ। पद रचना के रूप में (अभिव्यक्ति-प्रणाली की दृष्टि से) तो रीति सभी को ग्राह्य हुई और उसका विवेचन सब आचार्यों ने किया, पर काव्यात्मा का महत्व उसे न मिल सका।

संघटना की बात कही है वह तीन प्रकार की मानी है- असमासा, मध्य समासा और दीर्घसमासा। ये तीन तथ्य ही आनन्दवर्द्धन द्वारा विश्लेषित रीति के सम्बन्ध में कही गयी तीन महत्त्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करते हैं। राजशेखर का मत-राजशेखर ने रीति का विवेचन पर्याप्त विस्तार से किया है। उनके वचन विन्यास का क्रम ही रीति कहा जाता है। उनके मूल शब्द वचन विन्यास क्रमोरोतिः हैं।यह परिभाषा वाघन से मिलती-जुलती है। वचन का अर्थ वहाँ शब्द या पद से है और विन्यास का अर्थ रचना से है।

आचार्य कुन्तक के मतानुसार भी इसकी व्याख्या की गयी है। आचार्य कुन्तक ने रीति की कवि प्रस्थान हेतु कहकर समझाया है। उन्होंने रीति के लिए एक नया शब्द इस्तेमाल किया है जिसे उन्होंने मार्ग कहा है। कुन्तक के प्रस्थान हेतु का सीधा अर्थ है विधि या शैली। कवि शब्द का प्रयोग करके कुन्तक ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि रीति का निर्णायक आधार कवि का स्वभाव है। भोज-भोज ने रीति की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा की है। वास्तव में भोज ने मार्ग, पंथा और रीति को व्युत्पत्तिपरक अर्थ में भिन्न करते हुए इन तीनों को एक साथ जोड़ दिया है। उनके मूल श्लोक की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

वैदर्भादिकृतः पंथाः काव्ये मार्ग इति स्मृताः ।

रीगताविति धातोस्मा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते।"

आचार्य मम्मट-भोज के उपरान्त मम्मट ने रीति की स्वीकृति परिभाषाओं में थोड़ा सा परिवर्तन किया है। उन्होंने वृत्ति और रीति की अभिन्नता को स्वीकार किया है और नियत वर्षों के रसानुकूल व्यापार को रीति का नाम दिया है। मम्मट के अनुसार रीति वर्णों के गुम्फन का नाम है। वे समाज को रीति का वाहक न मानकर वर्ण गुम्फन को ही रीति का वाहक मानते हैं।

आचार्य विश्वनाथ-आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के वर्ण व्यापार के साथ-साथ पद संरचना अर्थात् शब्द गुम्फन तथा समस्त पदावली का महत्व पुनः स्थापित किया है। इतना ही नहीं विश्वनाथ ने आनन्दवर्द्धन 'प्रेरणा' से प्राप्त करके रीति का लक्षण इस प्रकार निश्चित किया है। "पद संघटना रीति रंगसंस्थाविशेषवक्त, उपकर्जी रसादीनाम।"अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है। वह अंग संस्थान की भाँति है और काव्य के आत्म रूप, रस आदि का उत्कर्षवर्द्धन करती है। जिस प्रकार शरीर की गठन बाहरी होकर भी मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व आत्मा का उत्कर्ष करती है उसी प्रकार सम्यक् पद संरचना का बाह्य अवयव होती हुई भी काव्यात्मभूत रस का उपकार करती है।

प्रामाणिक मत-उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि रीति के विषय में आचार्य वामन का मत ही उसे सर्वमान्य रहा है। उसके बाद जो भी भारतीय काव्यशास्त्र में प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अर्थ और महत्व है। प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्तक और संस्थापक ने अपने- अपने ढंग से अनेक मौलिक तत्वों का सहारा लेकर अपनी-अपनी बात कही है। रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक और प्रवर्तक आचार्य वामन थे। वे अन्य प्राचार्यों की भांति ही रीति को काव्य की आत्मा मानते थे। प्रश्न यह है कि रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया ? ध्यान से देखें तो इसके

प्रथम प्रयोक्ता आचार्य वामन ही हैं। रीति शब्द रीङ् धातु से बना है। इसका अर्थ है-गति, मार्ग या प्रस्थान। रीति शब्द का परम्परावादी अथवा रूढ़ अर्थ पद्धति, रिधि अथवा तरीका आदि है। वामन से पूर्व यद्यपि भामह और दण्डी ने वीति का विश्लेषण किया है। इन विद्वानों द्वारा किया गया रीति का विश्लेषण चर्चा मात्र है। इन्होंने रीति को परिभाषित नहीं किया है। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि रीति की परिभाषा और व्याख्या का काम पहले पहल आचार्य वामन ने ही किया था। उन्होंनें रीति सम्प्रदाय की स्थापना की।

विशिष्ट पदरचना रीति स्वरूप वामन के अनुसार रीति शब्द का अर्थ है, 'विशिष्ट पद रचना रीति' अर्थात् विशिष्ट पदों से युक्त रचना का नाम रीति है। वामन द्वारा प्रयुक्त रचना का नाम रीति है। वामन द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्द का अर्थ गुणयुक्त है। इसी कारण सम्भवतः वामन ने विशेषोगुणात्मा कहा है। गुण से उनका तात्पर्य काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म से है। ये धर्मशब्द और अर्थ के अतिरिक्त कोई दूसरे नहीं हैं। वामन ने रीति की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'काव्य शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद रचना को रोति कहते है।' शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्म से तात्पर्य शब्दार्थ चमत्कार से है। अतः वामन के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि शब्द और धर्म चमत्कार से युक्त पद रचना का नाम रीति है। आनन्दवर्द्धन का मत-वामन के पश्चात् आनन्दवर्द्धन ने रीति की व्याख्या की। उन्होंने

इस शब्द को व्याख्या के लिए संघटना शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार सम्यक् घटना, पद रचना का नाम ही रीति है। ध्यान से देखें तो आनन्दवर्द्धन ने वामन की परिभाषा को ही संक्षिप्त एवं प्रभावशाली शब्दावली में कह दिया है। वामन का पद रचना और आनन्दवर्द्धन का घटना शब्द एक दूसरे के पर्याय है। वामन ने पद रचना को शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त माना है। अर्थगत सौन्दर्य का तात्पर्य गुणों से है। आनन्दवर्द्धन ने इसके विपरीत केवल सम्यक् शब्द का प्रयोग किया है। आनन्दवर्द्धन के समक्ष रस का मानदण्ड था अतः उन्होंने सम्यक् शब्द का प्रयोग करके अपनी बात को स्पष्ट कर दिया है। वे रस को प्रमाण मानने के पश्चात् ही रीति की ओर बढ़े हैं। आनन्दवर्द्धन ने रीति को रस के आश्रित माना है उनका कथन है कि रीति रसरूप सौन्दर्य की साधन है। आनन्दवर्द्धन जिस आचार्य के सामने आये हैं उस पर पर्याप्त प्रकाश डाले गये हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने रीति और रस का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। वामन की विशिष्ट पद रचना रीति शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आधारित है। वहाँ गुणों का रीति से नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। आचार्य वामन के परवतों आचार्य आनन्दवर्द्धन आदि ने गुणों को रस का धर्म माना है, और उनके आश्रय से रीति को भी रस की अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति कराने का सशक्त माध्यम स्वीकार किया है। आचार्य वामन के अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना चमत्कार का नाम है। जो माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती है। रस दशा तक पहुँचने में साधन रूप में सहायक होती है।" स्पष्ट हो वामन तथा आनन्दवर्द्धन का रीति विषयक विवेचन पर्याप्त विस्तृत और संगत प्रतीत होता है। इन दोनों में भी आचार्य वामन का विवेचन सत्य एवं व्यापकता से अधिक निकट है।

'रीति' सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन माने जाते हैं। उन्होंने 'रीति' को 'विशिष्ट पदरचना' कहकर उसे व्यापकत्व प्रदान किया है। यों भी आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया है। जब वामन ने 'रीति' को व्यापकता करके काव्यात्मा कहा है तो उसका महत्व स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है फिर भी स्पष्टीकरण के लिए रीति को अधिक व्यापक और सूक्ष्म भूमिका पर खड़ा करके ही उसके महत्व को आंका जा सकता है। रीति का महत्व-सभी आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त का महत्व घोषित किया है। अतः काव्य सम्प्रदायों का काव्य सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से ही पर्याप्त महत्व है। अलंकार सिद्धान्त की अपेक्षा स्पष्ट ही रीति का विशेष महत्व प्राप्त है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने 'रीति सम्प्रदाय' के उदय का कारण इस सम्प्रदाय के आचार्यों की काव्यत्व निरूपण की असमर्थता बतलाई है। उनका स्पष्ट मत है कि 'रीति' सम्प्रदाय के आचार्य काव्यत्व के निरूपण मे असमर्थ रहे हैं और इसी असमर्थता के कारण वे रीतियों के प्रवर्तन की ओर झुके हैं। अलंकारशास्त्री भामह और दण्डी आदि गुण और अलंकार की पृथकता दिखाने में सफल नहीं हो सके। जब दण्डी यह कहते हैं कि "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारन् प्रचक्षते"तो उनके इस कथन में गुण और अलंकार दोनों का समावेश हो जाता है। आचार्य वामन ने गुण और अलंकारों का पार्थक्य स्पष्टता स्वीकार किया है और काव्य गुणों को अलंकारों की तुलन में अधिक महत्व दिया है। कारण यह है कि वे काव्य के शोभादायक धर्म गुणों को ही मानते है। काव्य का प्रमुख तत्व भाव है, किन्तु उसे काव्य का स्वरूप प्रदान करने तथा संवेध बनारे का कार्य रीति ही करती है। डॉ. कृष्णगोपाल ने स्पष्ट लिखा है कि रीति का महत्व कई कारणणे से है। ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में रीति की अपेक्षा ध्वनि को ही अधिक महत्व दिया है किन्तु उन्होंने भी रीति का महत्व स्वीकार करके उसका ध्वनि के साथ सामंजस्य बिठाने का भरसक प्रयत्न किया है।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने रीति को कवि-स्वभाव के साथ सम्बद्ध का उसकी महत्ता स्वीकार की है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने वामन द्वारा किये गये रीति के प्रकारों को उनके शब्दों में स्वीकार न करके 'वैदर्भी' का सुकुमार मार्ग 'गौड़ी' को 'विचित्र मार्ग' और 'पांचाली' को 'मध्यम मार्ग' कहा है।" पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'रीति' के महत्व को स्वीकार किया है। फुलोवर्ट के मतानुसार 'काव्य में जीवन की प्रतिष्ठा करने वाला तत्व रीति (Style) ही है।' स्पष्ट शब्दों में वह वस्तु नहीं, पर कहने का ढंग है जो हमारे हृदय को प्रभावित करता है। वह सामग्री नहीं, पर उस सामग्री को प्रस्तुत करने की रोति है जिससे पाठक का हृदय द्रवीभूत होता है। वस्तुतः रीति वणों, पदो, छन्दो और उसकी सहायता से अभिव्यक्ति भावों को नियमानुसार एक निश्चित क्रम और एक निश्चित ढंग से व्यवस्था करके काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि करती है। अतः स्पष्ट ही काव्य में रीति का महत्व है।

रीति और शैली का सम्बन्ध-निरूपण कुछ लोग 'रीति' और शैली को एक ही समझते हैं। रीति के अर्थ में शैली का सर्वप्रथम पंतजलि के काव्य में मिलता है। मुग्धबोध की टीका में दुर्गादास ने भी इसी अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग किया है। प्रश्न यह है कि क्या रीति और शैली एक ही है? या दोनों में कुछ अन्तर है। इससे स्पष्टीकरण के लिए पहले शैली शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। शैली का अर्थ-शैली शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इसकी व्युत्पत्ति 'शील' शब्द से हुई है। शील का अर्थ है स्वभाव जो कुन्तक के अनुसार रीति का नियामक आधार है। यो 'शैली' अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'स्टाइल' की व्याख्या में अनेक अंग्रेजी विद्वानों का विवेचन महत्वपूर्ण है। कुछ प्रमुख एवं प्रसिद्ध कथन इस प्रकार हैं-

1. गेटे- "शैली मस्तिष्क की प्रामाणिक प्रतिलिपि है।"
2. चेस्टरफील्ड- "शैली विचारों का परिधान है।"
3. लुई डेडले- "शैली कलाकार का व्यक्तित्व है जिसे वह कला या भावों के प्रसाधनों
से योजना द्वारा प्रकट करता है।"
4. लूकस - "साहित्यिक शैली वह है जिसके माध्यम से एक व्यक्ति, दूसरे तक पहुँचता है, उसे उद्दीप्त करता हैं।"
5. शेरेम-शैली वह अभिधा है जो किसी कलात्मक अभिव्यंजना-पद्धति में स्थित व्यक्तित्व की वाहिका बनकर आती है। इन परिभाषाओं के सहारे शैली के सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं-

(क) शैली व्यक्तित्व का अभिन्न और अविभाज्य अंग है।

(ख) शैली विचारों की वेशभूषा है और उनकी अभिव्यंजना का साधन है।

(ग) शैली सम्पर्क और सम्प्रेषणीयता का माध्यम है। मूलतः वह एक कचन पद्धति विशेष है, एक तरीका मात्र है।(घ) शैली अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य है जो कलात्मक व प्रभावकारी होता है। अतः डॉ. हरिचरण शर्मा के शब्दों में कह सकते हैं कि, "शैली किसी कार्य की संपादन विधि को व्यक्त करने वाला वह कौशल है जिसमें अभीष्ट वस्तु लेखकीय व्यक्तित्व से अभिसिक्त होकर दूसरे तक पहुँचती है। शैली कोई बना बनाया साँचा नहीं है जो किसी एक व्यक्ति ने कभी बना दिया और आगे की पीढ़ी उसी में अपने आपको 'फिट' करती चले। व्यक्तित्व का विकास शैली का विकास है। शैली कलाकार के स्वभाव और व्यक्तित्व से अनिवार्यतः जुड़ी रहती है।"

रीति और शैली साम्य विशिष्ट अर्थ में रीति और शैली में बहुत अन्तर नहीं है। यो अन्तर है तो सम्बन्ध भी है। शैली के मूल तत्व दो हैं- व्यक्तित्व और विषय वस्तु। यूरोपीय काव्यशास्त्र में इन दोनों तत्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। शैली में व्यक्तित्व प्रधान है। वैयक्तिक तत्व के भी दो रूप हैं-एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना और दूसरा, पात्र व परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय रीति में पहला तत्व विरल है। यों पूरी तरह इसका अभाव भी नहीं मिलता है। दण्डी ने ही काव्य मार्ग को कवि स्थिति माना है और कुन्तक ने कवि स्वभाव को ही शैली का मूल आधार माना है। 'शारदातनय' आदि ने तो "पुंसि पुंसि विशेषण कापि कापि सरस्वती" कहकर व्यक्तित्व को ही मान दिया है। अन्तर- रीति और शैली में समानता इस बात को लेकर है कि दोनों ही कथन की पद्धति विशेष को स्पष्ट करते हैं। रीति में भी कथन पद्धति का सौन्दर्य है और शैली में भी। इतने पर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इन दोनों के अन्तर को निर्धारित करने वाले तत्व निश्चय ही ध्यान देने योग्य हैं- डॉ. सुशील कुमार डेने ने इन दोनों में अन्तर माना है। उधर हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य समीक्षक डॉ. नगेन्द्र की मान्यता इस प्रकार है- "यों तो भारतीय रीति में व्यक्तित्व को सर्वथा अस्वीकृति नहीं है फिर भी अपने वर्तमान रूप में शैली में व्यक्तित्व का जितना महत्व है उतना भारतीय रीति में कभी नहीं रहा है।"

1. रीति और शैली दोनों ही पद्धति हैं-रचना पद्धति किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। यह अन्तर निर्विशेषता और सविशेषता को लेकर है।

2. रीति एक सामान्य पद्धति है जबकि शैली विशिष्ट पद्धति है।

3. रीति में स्थिरता का भाव है जबकि शैली में विकासशीलता का।

4. रीति का निश्चित साँचा है। अतः रीतिकार साँचे से इधर-उधर नहीं जा सकता है।
इसके विपरीत शैली है, जिसे परिस्थिति, प्रसंग और भाव के अनुसार बदलना पड़ता है। अतः दोनों में अन्तर है।

5. रीति रूढ़ि है। उसमें पूर्व नियोजन का भाव है। अतः वह आकर्षण विहीन है। शैली
में ऐसा नहीं है। उसमें सम्भावनाओं के लिए सदैव गुञ्जाइश रहती है।

6. शैली में जब एकरसता आ जाती है तो वह रीति बनने लगती है।

7. रीति बाहरी तत्वों पर आधारित है जबकि शैली में कवि व्यक्तित्व की गहरी छाप है। अतः भाषागत प्रेषणीयता व अभिनवता शैली में अधिक है।

8. रीति और शैली में प्रयोजनगत और प्रकृतिगत अन्तर भी है। रीति का प्रयोजन रचना कार्य की शुद्धता तक सीमित है जबकि शैली का प्रयोजन कार्य पूर्ति के साथ-साथ नवीनता और चमत्कार लाने में भी निहित है।

9. रीतिवाद आदर्शवादी और रूढ़िबद्धता से जुड़ा हुआ है जबकि शैली में स्वच्छन्दता और समयानुकूलता का भाव है।10 रीति वृद्धा है जो अपने सारे सम्भार को सम्भालकर रखना चाहती है जबकि शैली नवयौवना है।

11 रीति काव्य-गुणों पर आधारित है शैली वक्रता, चमत्कार और कवि के कौशल पर। निष्कर्ष-संक्षेप में कह सकते हैं कि रीति और शैली बाहरी तौर पर भले ही एक जैसी लगती हो, किन्तु व्यापक और व्यावहारिक स्तर पर दोनों में अन्तर स्पष्ट है।

रीति शब्द की उत्पत्ति 'रीड्' धातु से ऋतु प्रत्यय के मेल से हुई है। इसका अर्थ है-मार्ग, पन्थ या गति। काव्यशास्त्र में रीति का प्रयोग काव्य रचना की सामान्य पद्धति अथवा शैली के अर्थ में और संस्कृत के एक विशेष सम्प्रदाय के अर्थ में हुआ है। इस सम्प्रदाय को स्थापना आचार्य वामन ने नवीं शती में की थी। रीति शब्द की उत्पत्ति पर महाराज भोज ने अपने ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण में प्रकाश डालते हुए लिखा है- वदैर्भादिकृत्तः पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।

रीड गतावित धातोः सा व्यत्पत्या रीतिरुच्यते ।

हमारा वर्ण्य-विषय संस्कृत साहित्य के इसी रीति-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करता है।

रीति-परम्परा

'रीति' को एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का गौरव आचार्य वामन को प्राप्त होता है। वामन से पहले अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य काव्य में अलंकार की महत्ता का विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। अलंकार के विवेचन से काव्य प्राण-तत्व की स्पष्ट तथा स्वच्छ व्याख्या नहीं हो पाई थी। इस विषय में स्वयं अलंकारवादियों में विवाद तथा मतभेद दिखाई देता है। अलंकार सिद्धान्त के विकास के पश्चात् ही रीति-सिद्धान्त की स्थापना हुई। रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है-

'रीतिरात्मा काव्यस्य ।'

इस प्रकार रीति को काव्य की आत्मा के रूप में सर्वप्रथम वामन ने स्वीकारा।वामन सर्वप्रथम आचार्य है, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में आत्मा शब्द का प्रयोग करते हुए रीति को काव्य की आत्मा कहा पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि वामन से पूर्व रीति के सम्बन्ध मेमें विचार अथवा चिन्तन नहीं हुआ था। वास्तविकता तो यह है कि वामन से बहुत पहले से अन्य नाम से विवेचन होता आ रहा था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'रीति' से बहुत मेल खाते हुए शब्द 'प्रवृत्ति' का प्रयोग हुआ था। नाट्यशास्त्र में 'प्रवृत्ति' के निरूपण को देखकर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय विशेषताओं की सूचना की ओर भरतमुनि इनके द्वारा निर्देश करते हैं। इन्होंने आवन्ती, दक्षिणात्य, औड्रमागधी और पांचाली, प्रवृत्तियों की

विवेचना प्रस्तुत की है। इसी वर्गीकरण को देखकर प्रतीत होता है कि इसका आधार भौगोलिक है। इस विवेचन का अधिकतर सम्बन्ध वेशभूषादि से ही है, काव्य तत्व से तो बहुत ही कम। परवर्ती आचार्यों ने प्रवृत्तियों के विवेचन और वर्गीकरण को अपनाया, यही इस सूत्र की महत्ता है।

रीति-सिद्धान्त के आधारभूत तत्व गुण-दोष और लक्षण हैं। इनका विशद् विवेचन नाट्यशास्त्र में हो चुका था। इसका यह अर्थ नहीं है कि भरत रीति के प्रथम आचार्य हैं, पर रीति का पौधा अनाम रूप से नाट्यशास्त्र में प्रणीत्त हो चुका था।

भामह-अलंकार सम्प्रदाय के अधिष्ठाता आचार्य भामह ने छठी शताब्दी में लिखे हुए अपने ग्रन्थ 'काव्यलंकार' में वैदर्भ एवं गौड़ नाम से दो मार्गों का उल्लेख किया था। यह 'मार्ग' शब्द रीति का पर्यायवाची माना जा सकता है। यद्यपि मार्ग का उपर्युक्त वर्गीकरण भामह का नहीं है, बल्कि उनके पहले किसी अन्य विद्वान ने किया था, जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख करके विवेचन किया है। भामह ने इन दोनों मार्गों को उस स्थिति के अयोग्य बतलाया है, जबकि वे अलंकारविहीन हों। उनके अनुसार अलंकार, ग्राम्य, आर्य, न्याय और अनाकुलत्व इन गुणों से युक्त गौडीय मार्ग भी श्लाघनीय है और इनसे रहित वैदर्भ मार्ग भी त्याज्य है।

दण्डी-भामह के उपरान्त आचार्य दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में 'मार्ग' पर विचार किया है। इन्होंने प्रत्येक कवि के शैलीगत सूक्ष्म भेद की ओर संकेत किया है- ईख, गुड़, दूध आदि मधुर होते हैं और उनकी मधुरता में अन्तर भी होता है, किन्तु इस अन्तर को स्वयं सरस्वती भी स्पष्ट नहीं कर सकती है। आचार्य दण्डी ने भामह की अपेक्षा वैदर्भी और गौड़ी का अधिक सम्मानपूर्ण विवेचन किया है। गुण और रीति के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए वैदर्भी में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दस गुणों का होना आवश्यक बताया है। इन्होंने इन दस गुणों को वैदर्भी शैली का प्राण कहा है। दण्डी ने वैदर्भी शैली को उत्तम और गौड़ी को निकृष्ट माना है। गौड़ीय में इन दस गुणों में विपर्य की अवस्थिति इन्होंने स्वीकार की है। वामन-वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सूत्र' में रीति को इतना अधिक महत्व प्रदान किया कि उसे स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा ही घोषित कर दिया।

रीति के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए वामन लिखते हैं-

विशिष्ट पद-रचना को इन्होंने रीति स्वीकारा और विशेष पद-रचना क्या है? इसके उत्तर में वामन गुणों को ही विशेष बतलाते हैं। इस प्रकार काव्य का आधार रीति और रीति का आधार वामन गुण मानते हैं। अर्थात् रीति विशिष्ट पद-रचना है और यह विशिष्टता गुणों के ग्रहण और दोषों के त्याग से आती है। इस प्रकार स्पष्टतः काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व गुण माना गया। वामन ने भरतमुनि और दण्डी के गुणों की सूची ही स्वीकार कर ली, किन्तु गुणों के वामन दो मौलिकभेद करते हैं-शब्दगुण और अर्थगुण। इस तरह वामन के समय में गुणों की संख्या बीस है गई। इनके मतानुसार वैदर्भों में अर्थगुण और गौड़ीय में शब्दगुण की प्रधानता रहती है।

वामन ने 'मार्ग' के स्थान पर 'रीति' 'रीति' शब्द का प्रयोग किया और तीन प्रकार की शैलिए को स्वीकारा। वैदर्भी, गौड़ी शैलियों की चर्चा तो इससे पहले भी हो चुकी थी। इन्होंने तीसर शैली पांचाल को भी स्वीकृति दी। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रीति और गुणों के सम्बन में दण्डी के मत से भिन्न वामन का मत है। वामन ने दण्डी की तरह गौड़ी को पूर्ण निकृष्ट शैलं नहीं माना है। दण्डी ने गौड़ी को ओज कान्ति से युक्त माना है- "आजः कान्तिमती गौड़िया। पांचाली को वे माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों से युक्त होना आवश्यक मानते हैं।

वामन के परवर्ती आचार्यों ने भी रीति का विवेचन किया है। इस प्रकार रीति की परम्पर विकसित हुई है। वस्तुतः रीति परम्परा के विकास का वह दूसरा युग प्रारम्भ हुआ था। रुद्रट-आचार्य रूद्रट प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने रीति का वर्गीकरण एक नवीन आधार

भूमि पर किया। इनके वर्गीकरण का आधार समस्त पद और असमस्त पद हैं। इन्होंने तीन प्रकार के समस्त पद माने हैं- लघु समास, मध्य समास और दीर्घ समास। इन्हीं के आधार पर एक चौथी शैली 'लाटी' की इन्होंने कल्पना की है कि वैदर्भी एवं पांचाली माधुर्य तथा सौकुमाचं गुणों से युक्त होने के कारण श्रृंगार, करुण, अद्भुत आदि रसों की रचना के लिए अभीष्ट शैले है। गौड़ी और बन्ध से युक्त होने के कारण रौद्र रस की रचना के लिए उपयुक्त है।

राजशेखर-राजशेखर ने 'रीति-निर्णय' नामक अपने ग्रन्थ में नीति, प्रवृत्ति और वृत्ति की एक मधुर कल्पना की है। इन तीनों का उद्भव वे साहित्य वधू की वाणी, वेशभूषा औ विलास से कल्पित करते हैं। इन्होंने इस उद्भव को इस प्रकार व्यक्त किया है-

वेशभूषा से प्रवृत्ति, विलास से वृत्ति और वाणी से रीति का उद्भव माना है। रुद्रट को लाटी शैली इन्होंने नहीं स्वीकार की थी। रीतियों के परस्पर अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनको विशेषताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं- वैदर्भी असमास, स्थानानुप्रास और योगवृत्ति से, पाँचालं ईषदसमास, ईषदनुप्रास तथा उपचार, गौड़ी-समास, अनुप्रास एवं योगवृत्ति परम्परा से मंडित होती है।

कुन्तक-आचार्य कुन्तक ने रीति-विकास क्रम में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया है। इनके पहले के विवेचकों ने शैलियों का आधार भौगोलिक स्वीकार किया था, पर इन्होंने इन्हें का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से सम्बन्धित सिद्ध कर दिया। इसी दृष्टिकोण के कारण इन्होंने रीति के विभिन्न भेदों का नामकरण भी नये ढंग से किया सुकुमार मार्ग (वैदर्भी), विकि मार्ग (गौड़ी) और मध्य मार्ग (पांचाली)। कुन्तक का यह प्रयास बहुत सुन्दर था, किन्तु परवर्त आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

भोजराज-भोजराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। भोजराज ने पूर्व प्रचलित चार रीतिये के अतिरिक्त दो और रीतियों को नियोजित किया, जिन्हें उन्होंने अवन्तिका और मागधी की अभिध दी। अवन्तिका वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्तिनी रीति मानी गई। अवन्तिका और मागधं के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं-

सब रीतियों के मिश्रण को लाटी रीति कहते हैं और इसका रीति निर्वाह न होने पर खण्ड रीति को मागधी कहते हैं। परवर्ती विद्वानों ने वामन की तीन रीतियों को स्वीकारा। यह कहा जा सकता है कि रीति- विवेचन-परम्परा ग्यारहवीं-बारहवीं शदी तक निरन्तर चलती रही। रीति के पक्षधर और विपक्षघा दोनों ने रीति-विषय में अपने-अपने विचार व्यक्त किये। इसके बाद रस, ध्वनि के मुकाबले

में यह सिद्धान्त गौण हो गया।हिन्दी काव्यशास्त्र में रीति सिद्धान्त रोति शब्द का हिन्दी साहित्य में विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। यहाँ पर रीति का तात्पर्य लक्षण देते हुए या लक्षण को ध्यान में रखकर लिखे गए काव्य से होता है। इस प्रकार रीतिकाव्य वह काव्य है जो लक्षण के आधार पर या उनको ध्यान में रखकर रचा जाता है। अलंकार रस ध्वनि आदि को लेकर इनके उदाहरण रूप मे रचित हिन्दी काव्य इन काव्यों के अन्तर्गत हैं।

शास्त्रीय परम्परा में चिन्तामणि ने 'कविकुल कल्पतरु' में रीति को काव्य का स्वभाव माना है। कुलपति ने 'रसरहस्य' में रीति की पर्याप्त वृत्तियों पर विचार किया है। देव ने 'काव्य- रसायन' में रीति को काव्य द्वार माना है, जिसका भाव माध्यम से है। भिखारीदास ने 'काव्य- निर्णय' में रीतियों के स्थान पर वृत्तियों का वर्णन किया है। जगतसिंह ने 'साहित्य सुधानिधि' में रुद्रट के आधार पर रीति विभाजन किया है।

रीति के आधुनिक विवेचको में कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केड़िया तथा रामदहिन मिश्र प्रमुख हैं। इन्होंने संस्कृत रीतिशास्त्र के आधार पर हिन्दी में रीति-विवेचन किया है। नवीन दृष्टि के विचारकों में रीति को वर्णन की शैली विशेष के रूप में स्वीकार किया गया है।

रीति के प्रकार

रीति के वामन ने तीन भेद स्वीकार किये हैं- वैदर्भी रीति, गौड़ी रीति और पांचाली रीति। 1. वैदर्भी-आचार्य विश्वनाथ के अनुसार-माधुर्य गुण व्यंजक वर्षों द्वारा समास रहित अथवा अल्प समास रचना वैदर्भी है। वामन ने वैदर्भी को समग्र गुणों से सम्पन्न माना है।

2. गौड़ी रीति-आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ओजगुण प्रकाशक वर्णों से युक्त उद्भट्ट रचना, जिसमें समास और विद्वत्तापूर्ण पदों का अधिक प्रयोग होता है- गौड़ी रीति है। वामन गौड़ी में मात्र ओज-क्रान्ति गुणों का समावेश मानते हैं।

3. पांचाली रीति-आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पाँच-छह समास युक्त पदों के बन्ध वाली पांचाली है-

"समस्त पंचष्ट पदो बन्धः पंचालिका मता।" वामन के मत से पांचाली में सौकुमार्य और माधुर्य गुण होता है। स्पष्टतः वामन ने वैदर्भी को ही पूर्ण स्वीकृति दी है। वामन का यह वर्गीकरण असंगत-सा प्रतीत होता है, क्योकि यदि काव्य पांच, सात या आठ गुणों से मण्डित हो तो वह किस खाते में जाएगा? इस बात को वामन ने स्वीकार किया कि देश-विदेश के लोगों की रचना के आधार पर रीतियों का नामकरण किया गया है, पर इनकी मान्यता इस सम्बन्ध में यह भी थी कि देश-विदेश से 'द्रव्य-गुण' या 'काव्य गुणों' की उत्पत्ति नहीं होती है। इस स्पष्टीकरण के बावजूद भी आचार्य कुन्तक ने इनके वर्गीकरण को नहीं स्वीकारा अपितु मानस अवस्था से सम्बन्धित करके रीतियों का वर्गीकरण सुकुमार, विचित्र और माध्य मार्ग में किया।

रीतिकाव्य के आधारभूत तत्व

वामन सौन्दर्यवादी आचार्य थे। उन्होंने सौन्दर्य से सम्बन्ध रखने वाले, सौन्दर्य विधायक सभी गुणों को जिनसे काव्य-सौन्दर्य में भी अभिवृद्धि होती है, 'रीति' के आधारभूत तत्व के रूप में ग्रहण किया। गुणों के होते हुए भी यदि परिष्कृत भाषा और साज-सज्जा का अभाव हो और दोषयुक्त हो तो भी काव्य प्रभावित होकर हीन हो जाता है। अतः गुण, दोष तथा अलंकार को उन्होंने मुख्य रूप से काव्य का आधार तत्व माना है।

1. गुण-आचार्य वामन ने गुणों को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इन्होंने पूर्व प्रचलितदस गुणों को ग्रहण तो कर लिया, पर प्रारम्भ में ही गुणों को दो भागों में विभाजित कर दिया- शब्दगुण और अर्थगुण। शब्दगुणों की व्याख्या इस प्रकार की है-

प्रसाद रचना की शिथिलता प्रसाद है।
श्लेष नमसृणतत्व तथा सुकोमलता श्लेष है।
समता- शैली की एकरूपता अथवा मार्ग की अभेदता ही समता है।
समाधि शैली का आरोह-अवरोह समाधि है।
माधुर्य- शब्दों की पृथकता माधुर्य है।
सौकुमार्य- कठोरता का अभाव सौकुमार्य है। उदारता रचना शैली की विकटता उदारता है।
अर्थव्यक्ति अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति अर्थव्यक्ति है।
कान्ति- शैली की नवीनता तथा उज्ज्वलता कान्ति है।
अर्थगुण- शब्द गुणों के समान वामन ने अर्थगुणों को भी समझाया है।
प्रसाद अर्थ की विमलता प्रसाद है।
श्लेष क्रमिक घटना श्लेष है।
समता- अर्थ की सुगमता समता है।
समाधि अर्थ दर्शन समाधि है।
माधुर्य- उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य है।
सौकुमार्य- अर्थ-मसृणत्व सौकुमार्य है।
उदारता अग्राम्यत्व उदारता है।
अर्थव्यक्ति स्वभाव स्पष्टता अर्थव्यक्ति है।
कान्ति- रस-दीप्ति कान्ति है।
उपर्युक्त दोनों प्रकार की शब्द-गुणों एवं अर्थ-गुणों की व्याख्या से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि दोनों की व्याख्या में पर्याप्त अन्तर है, फिर भी गुणों के नाम वही स्वीकारे गए है, जो परम्परा से चले आ रहे थे। यद्यपि रचना के प्रगाढ़ बन्ध को शब्द-गुणों में ओज कहा गया है, जबकि अर्थ की प्रौढ़ता को अर्थगुणों में ओज माना गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कान्ति गुण में रस को समेटने का प्रयत्न करके वामन रस की उपेक्षा नहीं कर सके। 2. दोष-जो गुणों और अलंकारों को हीन बनाते हैं, उनकी भी व्याख्या वामन ने प्रस्तुत की है। भरतमुनि ने दोषों की संख्या दस निर्धारित की थी-

(1) गुढ़ार्थ (2) अर्थान्तर (3) अर्थहीन, (4) भिन्नार्थ, (5) एकार्थ, (6) अभिलुप्तार्थ, (7) न्यायादपेत, (8) विषम, (9) विसन्धि और (10) शब्दहीन। आचार्य भामह ने इनकी संख्या 21 कर दी, पर दण्डी ने दस ही स्वीकार की। वामन ने दोषों को चार भागों में विभक्त कर दिया- पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ दोष। इसके अन्तर इनके उपभेद किए। इस तरह उनकी संख्या बीस तक पहुँच गई। वे दोषों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(i) पद-दोष- (1) असाधु (व्याकरण-च्युत), (2) कष्ट (कर्ण-कटु), (3) ग्राम्य, (4) अप्रतीत (अप्रचलित शब्द) और (5) अनर्थक (निरर्थक शब्द)। (ii) पदार्थ-दोष- (1) अन्यार्थ (भिन्न अर्थ में प्रयुक्त शब्द), (2) नेयार्थ (कल्पना से अर्थ प्राप्ति), (3) गूढ़ार्थ (अप्रसिद्ध-अर्थ), (4) अश्लील और (5) विसंधि । (iii) वाक्य-दोष (1) भिन्न-वृत्ति, (2) मति भ्रष्ट और (3) क्लिष्ट।

(iv) वाक्यार्थ-दोष (1) व्यर्थ (पूर्वापर विरोधी), (2) एकार्थ (एक अर्थ कीआवृत्ति), (3) संदिग्ध, (4) अप्रयुक्त, (5) उपक्रम (6) आलोक (देशकाल एवं प्रवृत्ति के विरुद्ध अर्थ) और (7) विद्या-विरुद्ध (कला शास्त्र, सिद्धान्त विरुद्ध)।

वामन का यह उपर्युक्त विवेचन पर्याप्त स्पष्ट और संगत प्रतीत होता है।

3. अलंकार-रीति का तीसरा महत्वपूर्ण अंग अलंकार है। इनके मतानुसार अलंकार काव्य से अनित्य सम्बन्ध रखते हैं। इनके द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता है अपितु सौन्दर्य अभिवृद्ध होता है। सौन्दर्य को उत्पन्न करने की शक्ति इन्होंने गुणों में मानी है। इस प्रकार वामन के मतानुसार स्पष्टतः गुणों के पश्चात् ही अलंकार का स्थान है। यही रीति सम्प्रदाय में अलंकार की मान्यता और अलंकारवादियों की अलंकार सम्बन्धी मान्यता में अन्तर है। अलंकारवादी अलंकार को काव्य का स्थायी नित्य और आवश्यक अंग मानते हैं।

वामन-अलंकार को पहले दो वर्गों में विभाजित किया है- शब्दालंकार और अर्थालंकार। इसके बाद शब्दालंकार के दो भेद किए है- अनुप्रास और यमक। अन्य शब्दालंकारों को वामन ने इन्हीं के अन्तर्गत समेट लिया है। अर्थालंकारों में वामन उपमा का अत्यधिक महत्व प्रदान करते हैं। शेष अर्थालंकारों को वामन उपमा के विभिन्न रूपों में ही निरूपित कर देते हैं। यह विवेचन पर्याप्त तर्क-संगत तथा प्रौढ़ है इसमें वामन की मौलिकता का भी प्रदर्शन हुआ है। भारतीय काव्य सम्प्रदाय में रीति

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में रस, अलंकार, रीति, अक्रोति और ध्वनि प्रमुख हैं। रसवादी आचार्य भरत मुनि ने काव्य में भावात्मकता को प्रश्रय दिया, इससे काव्य को एक अत्यन्त उदात्त एवं गम्भीर स्वरूप प्राप्त हो गया। इसका सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक पक्ष में था। अलंकारवादियों का ध्यान काव्य के बाह्य स्वरूप पर टिका हुआ था। रीति-सम्प्रदाय में भी मात्र काव्य के बाह्य पक्ष अथवा शैली-पक्ष की विवेचना प्रस्तुत की गई। वक्रोक्ति सम्प्रदा में काव्य के सूक्ष्माति सूक्ष्म अंगों से लेकर दीर्घतम रूप की स्पष्ट व्याख्या की गई है। ध्वनि सम्प्रदाय ने तो रस और अलंकार को सम्माननीय स्थान प्रदान करके अपने को अत्यधिक व्यापक और स्थायी बना लिया है। इन सभी सम्प्रदायों की व्याख्या को देखते हुए इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले आचार्य वामन ने भरत मुनि के गुणों तथा दोषों को ही स्वीकार कर लिया। गुण तथा दोष बाह्य पक्ष तथा शैली से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए यह सिद्धान्त रस-सिद्धान्त की अपेक्षा अत्यधिक संकीर्ण ठहरता है। आचार्य वामन ने अलंकार का विरोध करके गुणों को प्रमुख स्थान देने का प्रयास किया, इसके बावजूद भी वामन, भामह और दण्डी के सिद्धान्तों के समीप ही प्रतीत होते हैं। आचार्य कुन्तक की तरह ये काव्य के सभी पक्षों को स्पर्श न कर सके, बल्कि सारी शक्ति, गुण-दोष और अलंकारों की व्याख्या में लगा दी। ध्वनि-सम्प्रदाय तो अत्यधिक व्यापक है, उससे रीति-सम्प्रदाय का तो कोई मुकाबला ही नहीं हो सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में शैली

ग्रीक विद्वान प्लेटो ने शैली के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए शैली को तीन विभागों-सरल, विचित्र और मिश्र में विभाजित किया। अरस्तू ने भी शैली के दो मूल गुण बतलाए हैं- स्पष्टतः और औचित्य। अरस्तू ने शैली के दोषों का भी विवेचन किया है। अरस्तू के मतानुसार समासों का अधिक प्रयोग, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग और अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग और अनुपयुक्त रूपक प्रयोग आदि शैली के दोष हैं। प्रसिद्ध रोमन-विद्वान सीसरो ने शैली को चार भागों में विभाजित किया है- उपयुक्त शब्द प्रयोग, स्पष्टता, सामंजस्यमयी पद रचना और स्वर व्यंजनों

की मधुर योजना। डायोनीसियम ने तीन गुणों को शैली के लिए स्वीकार किया- शुद्धता, स्पष्टता और समास। इन्होंने इनके तीन भेद किए हैं- कठिनोदात्त, मसृण और मिश्र। क्विन्टीलियन ने भौगोलिक आधार पर शैली के नामकरण किए एटिक, एशियाटिकऔर रोहेडियन। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई शैली की व्याख्या रीति को व्याख्या से पर्याप्त साम्य रखती है। आधुनिक युग के विद्वानों ने प्रयत्नपूर्वक पूर्व शैली को समाप्त कर दिया है। इनके विचारानुसार शैली की पृथक कल्पना ही त्रुटिपूर्ण है। आज का पाश्चात्य विद्वान मानता है कि शैली कवि के व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग है।

रीति और पाश्चात्य विद्वानों की शैली पर विचार करने से ज्ञात होता है कि रीति में पाठक के दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई है, जबकि शैली को व्यक्तित्व का अभिन्न अंग माना गया है। रीति में अध्ययन, अभ्यास और प्रयत्न आवश्यक तो ठहराया गया है और शैली में सहज स्वाभाविकता को प्रमुखता दी गई है। रीति विषय से सम्बन्धित है तथा शैली व्यक्तित्व से रीति का विभाजन या वर्गीकरण सम्भव है, पर शैली का नहीं। इस प्रकार यह परिणाम निकलता है कि पाश्चात्य विद्वानों का शैली विवेचन भारतीय सम्प्रदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

रीति सिद्धान्त का मूल्यांकन

वामन के रीतिवाद में रस की उपेक्षा की, गुणाश्रित रीति के सामने रस की गौण स्थिति थी। रस की स्वीकृति मात्र कान्ति नामक गुण में थी और यह कान्ति गुण गौड़ी वृत्ति से सम्बद्ध था। गौड़ी को वामन ने वैदर्भी के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ माना था। इस प्रकार उसे साध्य से साधन बना दिया। मम्मट ने काव्यात्मा के रूप में रीति के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए-

"क्या सभी गुणों से युक्त रचना ही काव्य संज्ञा है अथवा कतिपय गुणों से सम्पन्न रचना भी काव्य है?"

"यदि सभी गुणों से समन्वित रचना ही काव्य है तो दो-दो गुणों वाली गौड़ी और पांचालो रीतियों में काव्यत्व होगा?"

"यदि कुछ गुणों वाली रचना में भी काव्यत्व स्वीकार है तो ओज गुणमयी नीरस रचना भी काव्य कहलाएगी, परन्तु कोई सहृदय उसे काव्य मानने को प्रस्तुत नहीं।"

इस प्रकार मम्मट ने रीति को काव्य पुरुष के रूप में अंग संस्थानवत् बाहरी तत्व ही स्वीकार किया और यही स्थिति परवर्षेकाल में भी मान्य रही। वामन का रीति-सिद्धान्त परवतों काव्य शास्त्र में मान्य नहीं हुआ।

2.5 वक्रोक्ति सिद्धान्त वक्रोक्ति की अवधारणा

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त पर्याप्त चर्चित और महत्वपूर्ण रहा है। काव्य शास्त्र के क्षेत्र में वक्रोक्ति को वही महत्ता प्राप्त हुई है, जो नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में रस को मिली थी। यह तथ्य इसी से प्रमाणित हो जाता है कि काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अलंकारों को काव्य का जीवन और वक्रोक्ति को अलंकारों का जीवन जाना है। आचार्य कुन्तक से पहले वक्रोक्ति को काव्य का अलंकार स्वीकार किया जाता था और काफी समय तक यही मान्यता प्रचलित रही। वक्रोक्ति को काव्य का जीवन अर्थात् सर्वस्व मानने वाले अकेले आचार्य कुन्तक रहे हैं।

वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ-एक सर्वव्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में कुन्तक द्वारावक्रोक्ति की स्थापना यद्यपि 11वीं शताब्दी में ही की गई, किन्तु वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने के संकेत कुन्तक से बहुत पूर्व भामह और उनसे भी किचित् पूर्व बाणभट्ट के युग मे उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट ने कादम्बरी में शूद्रक के लिए विशेषण-रूप में जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि उन्हें वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ही अभीष्ट था- शब्दालंकार मात्र नहीं। 'हर्षचरित' में भी उन्होंने एक स्थान पर वक्रोक्ति के विभिन्न तत्वों की गणना की है। संस्कृत के प्रसिद्ध साहित्याचार्य भामह ने भी व्यापक अर्थ में ही वक्रोक्ति को ग्रहण किया था। उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के लिए अलंकार शब्द का प्रयोग करते हुए वक्र

शब्दार्थ से युक्त वाणी के अलंकार को ही अभीष्ट माना है, तथा उनके अनुसार काव्य-सौन्दर्य (अलंकार) का मूलाधार वक्रोक्ति ही है, उसी के द्वारा काव्यार्थ का विभाजन होता है तथा वक्रोक्ति के अभाव में काव्य-सौन्दर्य (अलंकार) की स्थिति सम्भव नहीं है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने भी विस्तृत परिप्रेक्ष्य में ही वक्रोक्ति का अर्थ ग्रहण किया। स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति को वाङ्गमय के दो भेदों के रूप में प्रतिपादित करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार माना। दण्डी ने स्वभावोक्ति को काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यद्यपि वक्रोक्ति की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण माना है, तथापि दण्डी की भांति उसे सर्वथा तिरस्कृत नहीं किया। दण्डी के उपरान्त रुद्रट एवं रीतिवादी वामन ने वक्रोक्ति को काव्य-सौन्दर्य के व्यापक मूल्य के रूप में मान्यता न देते हुए एक अलंकार के रूप में ही उसका उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को एक स्थल पर यद्यषि अलंकार के रूप में उल्लिखित किया है, तथापि एक अन्य स्थान पर अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय के रूप में उल्लिखित किया है, तथापि एक अन्य स्थान पर अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय मानते हुए उन्होंने भामह के मत का जिस रूप में पृष्ठ-पोषण किया है, उससे यहीं जान पड़ता है कि उन्हें उन्हें वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ भी स्वीकार्य था।

अभिनव गुप्त ने भी वक्रोक्ति को सामान्यतः व्यापक अर्थ मे ही ग्रहण किया। कुन्तक के समकालीन भोज ने सारग्राहक दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने वाङ्गमय को तीन भेदो-वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वाभावोक्ति में विभक्त कर अलंकार की सभी जातियों को सामूहिक रूप से वक्रोक्ति का अभिधान दिया तथा भामह के मत का आधार ग्रहण करते हुए वक्रता को काव्य की परम शोभा घोषित किया। कुन्तक के परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक द्वारा प्रतिष्ठित वक्रोक्ति सिद्धान्त को कोई महत्व प्रदान नहीं किया। मम्मट तथा विश्वनाथ ने एक शब्दालंकार एवं रूय्यक, विद्यनाथ अथवा अप्पय्यदीक्षित ने अर्थालंकार के संकुचित रूप में ही उसे ग्रहण किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वामन को छोड़कर, कुन्तक के प्रायः सभी पूर्ववर्ती आचायों ने वक्रोक्ति को यद्यपि व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया, किन्तु कुन्तक की भांति एक अत्यन्त विस्तृत काव्य-सिद्धान्त के रूप में किसी ने भी उसकी प्रकल्पना नहीं की थी। कुन्तक के परवर्ती आचार्यों ने तो अलकार से अधिक महत्व उसको दिया ही नहीं। वक्रोक्तिवाद की विधिवत् स्थापना तथा व्यापक सन्दर्भ में काव्यात्मा के रूप में वक्रोक्ति का प्रतिष्ठापन कुन्तक की मौलिक प्रतिभा का ही परिणाम था। अतः वक्रोक्तिवाद के अन्तर्गत काव्यास्वाद के स्वरूप का निर्धारण कुन्तक की तद्विषयक मान्यताओ के परिवृत्त में ही सम्भव है।

वक्रोक्ति का अर्थ और विश्लेषण- वक्रोक्ति, वक्र उक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका सीधा और सामान्य अर्थ है, टेढ़ी उक्ति अर्थात् वक्र कथन। वक्रोक्ति वह है जो सीधे कथन की अपेक्षा टेढ़ा या घुमा-फिराकर कथन किया जाता है। साहित्य और लोक- व्यवहार में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग वाक्-छल, क्रीड़ा-कलाप या परिहास कथन के अर्थ मे होता रहता है। आचार्य कुन्तक ने समस्त प्रचलित अर्थों को हृदयगम करके वक्रोक्ति के स्वरूपको स्पष्ट किया है तथा काव्यात्मा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोधि के विषय में जो कुछ कहा है, उसके सन्दर्भ से उनके द्वारा कथित निम्नांकित पाँच उद्धरण मह रखते हैं। ये उद्धरण इस प्रकार हैं-

(1) वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्येतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कौदृशी, वैदग्ध्य भंगीभणितिः वैदग्ध विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छिति तथा भणितिः । विचित्रत्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।

अर्थात्-वक्रोक्ति ही (शब्द तथा अर्थ दोनों का) एक मात्र अलंकार है। प्रसिद्ध कर से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। कैसी? वैदग्धपूर्ण कथन शैली वक्रोक्ति है। वैदग्ध का आशय है विदग्धता कवि-कर्म-कौशल, उसकी भंगिमा अथवा शे का सौन्दर्य उसके द्वारा कथन करना वक्रोक्ति है।

(2) चतुवर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् । काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

अर्थात्-काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले (सहृदय अथवा प्रमाता) अन्तःकरण के चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है।

(3) चमत्कारो वितन्यते चमत्कतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः अर्थात् - "चमत्कारो विन्यते" का अर्थ यह है कि अलौकिक काव्यानन्द (अन्तश्चमत्कार का संचार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि वह बार-बार आनन्द की अनुभूति कराता है।

(4) शब्दार्थो सहितौ वक्रकविरूपारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विवाह लादकारिणि ।।

अर्थात्-काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक, वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना (बन्ध में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य (कहलाते) हैं।

(5) सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्ति शक्ति-मतोरभेदात् । तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिशाद ध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्मना-भ्यासत्परः क्रियते।

अर्थात्-सुकुमार स्वभाव वाले कवि में उसी प्रकार की (सुकुमार) सहज शक्ति उत्पन होती है, शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होने से और वह उस (सहज सुकुमार शक्ति) उस प्रकार की (सहज) सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। उस सहज सुकुमा शक्ति तथा उससे उपार्जित सुकुमारव्युत्पत्ति। उन दोनों के द्वारा सुकुमार मार्ग से ही (काव्य- रचना के) अभ्यास में तत्पर होता है।

आचार्य कुन्तक की उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर डॉ. कृष्णबल ने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. प्रसिद्ध कथन (शास्त्र एवं लोक में व्यवहृत) की शैली में व्यतिरिक्त, चारुतर विचि एवं असाधारण वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है।

2 कवि-कर्म के कौशल के आश्रय से ही इस प्रकार की असाधारण विदग्धतापूर्ण वर्णन शैली का सृजन होता है। काव्य मूलतः कवि-व्यापार है, कवि की असाधारण प्रतिभा ही कान सौन्दर्य का सेतु है। कवि प्रतिभा के प्रताप से ही, दूसरे शब्दों में- चमत्कार उत्पन्न करता है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य मूलतः कवि-व्यापार होने के कारण एक कला है तथा काव्यानन्द काव्यकला-जन्य ही होता है।

3 वक्रोक्ति से अनुप्राणित काव्य प्रमाता के अनतःकरण के आनन्दमय चमत्कार क सृष्टि करता है। प्रमाता इस चमत्कार की अनुभूति बार-बार करता है।वक्रोक्ति की महत्ता और व्यापकता-आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धात काव्य का महत्वपूर्ण और व्यापक सिद्धान्त है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को केवल न काव्यात्माके रूप में प्रसिद्ध किया है, अपितु एक व्यापक काव्य सिद्धान्त भी बनाया है। इसका क्षेत्र विस्तार वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान और प्रबन्ध कल्पना तक है। कुन्तक ने काव्य-सौन्दर्य के समस्त रूपों-वर्णन चमत्कार से प्रबन्ध कौशल तक को वक्रता के ही प्रकार माना है और अलंकार, रीति गुण, ध्वनि, औचित्य और रस आदि को भी वक्रोक्ति के सहायक और पोषक तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। वास्तविकता यह है कि वक्रोक्ति में उक्ति चमत्कार तो है, किन्तु उससे भी अधिक कवि-कौशल पर बल दिया गया है। इसमें काव्य के उपस्थापन को ही काव्य का ही मूल तत्व माना गया है। सहृदय आह्लादकत्व को काव्य के मूल्यांकन की कसौटी स्वीकार करते हुए ही आचार्य कुन्तक ने कवि प्रतिभा के द्वारा रमणीय धर्मों के उद्घाटन को विशेष महत्व दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस सिद्धान्त में कवि, व्यापार को ही विशिष्टता प्राप्त है। आधुनिक शब्दावली में इस रचना प्रक्रिया को कला का नाम दिया जा सकता है।

'वक्रोक्ति' का सामान्य अर्थ 'वक्र उक्ति' अर्थात् ऐसा कथन है जो सामान्यजनों के कथन से भिन्न हो। आचार्य भामह ने इसे ही "लोकान्तिक्रान्तगोचरं वचः" लोक को अतिक्रमण करने वाला वचन कहा है। गर्मी के कारण भूमि में दरार पड़ने पर यह कहना कि "गर्मी से भूमि में दरार पड़ गई है" सामान्य उक्ति में, किन्तु उसके स्थान पर यह कहना कि "धन के वियोग से भूमि की छाती फट गई है" वक्रोक्ति है। सामान्यजन अपने भावों को व्यक्त करने के लिए सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग करते हैं, किन्तु कवि उनसे भिन्न शब्दों और अर्थों का प्रयोग करते हैं। यही उनका काव्य में वक्रोक्ति प्रयोग है।" शब्द और अर्थ की यह लोकोत्तर स्थिति ही वक्रोक्ति है।

"वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" का स्पष्टीकरण

"वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" का स्पष्ट अर्थ यह है कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित अर्थात् प्राणतत्व है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन अथवा प्राण घोषित किया है। उनके इस कथन की धारणा को समझने के लिए उनके द्वारा निरुपित काव्य के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ "वक्रोक्ति जीवितम्" के प्रथम उन्मेष में काव्य की उत्पत्ति मूलक व्याख्या करते हुए "कवैः कर्म कावयम्" कहकर काव्य को कवि का कर्म कहा है। वे आगे चलकर कहते हैं- "तत्वंसालंकाररस्य काव्यता।" उनके ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि "अलंकार सहित (अवयव रहित) काव्यता ही कवि कर्म है।" इस कथन से स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का मूल तत्व मानते हैं, उसे काव्य शोभा-करान् नहीं मानते। दूसरे शब्दों में, वे "अलंकारयुक्त शब्दार्थ" (शब्द अर्थ) को ही काव्य कहते हैं।

आचार्य कुन्तक के अनुसार-काव्य-स्वरूप में निम्नांकित बातें आवश्यक हैं-

1 शब्द और अर्थ की युति।

2. शब्द और अर्थ का व्यवस्थित बन्ध ।

3. कवि-व्यापार की वक्रता (व्यंग्यार्थ बोधकता)।

4 सहृदयों को आनन्द प्रदान करने की क्षमता।

इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कुन्तक शब्द और अर्थ के साहित्य (सहितो) को ही काव्य मानते हैं, केवल शब्द-सौन्दर्य अथवा केवल अर्थ-सौन्दर्य (चमत्कार) का उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। अपने इस मत को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है-

"साहित्यं तूल्यकक्षत्वेनायूनानतिरिक्तत्वम्।" शब्द और अर्थ दोनों को समान कक्ष में रखना ही साहित्य है। इनमें किसी एक का भी महत्व न्यून अथवा अधिक होना नहीं है। उनके मतानुसार समर्थ शब्द के प्रभाव में अर्थ स्वरूपत. स्फुरित होने पर भी निर्जीववत् ही रहता है। इसी प्रकार शब्द भी काव्योपयोगी अर्थ के अभाव में किसी अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भार बन जाता है।

उन्होंने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" स्पष्ट करते हुए साहित्य को वक्रता से विचित्र गुण और अलंकार-सम्पत्ति को परस्पर स्पर्धा रूप कहा है। वे कहते हैं-मेरे मत में सर्वगुणयुक्त और मित्रों के समान परस्पर संगत शब्द और अर्थ दोनों एक-दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं। इस कथन के अनुसार 'साहित्य' शब्द का अर्थ है-शब्द और अर्थ का पूर्ण सामन्जस्य। यह वक्रतावैचित्र्य तथा गुण और अलंकार की सम्पदा से युक्त होता है। दूसरे शब्दों में, इसमें शब्द के समस्त सौन्दर्य और अर्थ का समस्त चमत्कार दोनों का सम्यक् योग (व्यवस्थितौ) होता है। वे यह 'सामंजस्य" सामान्य शब्द और अर्थ का नहीं पर विशिष्ट शब्द और विशिष्ट अर्थ का मानते हैं। इस वैशिष्ट के कारण ही शब्द और अर्थ का व्यवस्थित बन्ध (काव्य) सहृदयों को आह्लादित करता है।

उन्होंने 'तद्विदाह्लादकारिणी" पद की व्याख्या करते हुए लिखा है-तत् का अर्थ है काव्य और विद् का अर्थ है मर्मज्ञ। अतः तद्विहाद्लाद का अर्थ हुआ-काव्य-मर्मज्ञ। वे यह मानते हैं कि पदार्थ या वस्तु एकाधिक धर्म से युक्त हो सकती है, किन्तु इसके सभी धर्मों में सहृदय को आनन्द प्रदान करने की क्षमता नहीं होती, उस पदार्थ या वस्तु का धर्म-विशेष ही काव्य- मर्मज्ञ अथवा सहृदय को आनन्द प्रदान करने की क्षमता रखता है। उस धर्म में ऐसी क्षमता सम्भव होती है, जिसमें किसी अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की क्षमता होती है। आचार्य कुन्तक की उपर्युक्त सम्पूर्ण मान्यताओं के अनुसार उनके 'काव्य-रूप' की निम्नांकित विशेषताएँ जान पड़ती हैं-

1 काव्य का मूलाधार शब्द और अर्थ की सामंजस्यता ।

2 शब्द और अर्थ दोनों सामान्य नहीं, विशिष्ट होने चाहिए।

3. विशिष्ट शब्द वह है, जिसके अनेक पर्यायवाची। (विविधधर्मों) होते हुए भी केवल एक ही शब्द का व्योपयोगी विशेष अर्थ का द्योतक होता है।

4 "विशिष्ट अर्थ" से उनका तात्पर्य यह है कि अनेक अर्थों में से केवल, वही अर्थ काव्य से ग्रहीत होना चाहिए, जिसमें वैचित्र्य और रस-पोषण क्षमता हो।

5 काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व प्राप्त हो।

6. यह शब्द और अर्थ का सामंजस्य गुणालंकार सम्पदा से मुक्त हो। अर्थात् काव्य में ये दोनों, शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य परस्पर स्पर्धा करने से जान पड़ें।

7 काव्यं में शब्द और अर्थ की यह समन्विति व्यवस्थित बन्ध द्वारा व्यक्त हो। वे इसी प्रकार की रचना को कवि-कौशल पूर्ण अर्थात् वक्रतायुक्त रचना कहते हैं।

8 यह रचना सहदयों के लिए आह्लाददायिनी हो।उपर्युक्त विशेषताओं के परिवेश में कुन्तक के काव्य स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं- "काव्य विशिष्ट अनुभूति और अभिव्यक्ति के तादात्म्य की वह रमणीय अर्थात् आनन्ददायक अभिव्यक्ति जो अलंकार-युक्त विशिष्ट शब्दावली द्वारा कवि-कौशल से अभिव्यंजित होती है।" उनके इस काव्य-स्वरूप से वे मूलतः भामह, दण्डी आदि की तरह अलंकारवादी हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इन्होंने अलंकार का सम्पूर्ण विस्तार वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत कर अलंकार को काव्य की आत्मा न कहकर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा- "वक्रोक्ति काव्यजीवितम्" कह दिया है। भामह ने "शब्दार्थोसहितौ-काव्यम्" कहा, दण्डी ने "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदं" कहा और वामन ने "काव्य ग्राह्यमलंकारात्" अथवा मूर्णालंकार- संस्कृतयोः कहा और कन्तक ने इन तीनों पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य परिभाषाओं को एक साथ मिलाकर कुछ अतिरिक्त शब्दों के साथ "तद्वियाह्लादकारिणी" कहकर अपनी काव्य परिभाषा लिख दी।

इससे कुन्तक की परिभाषा में उक्त तीनों आचार्यों की परिभाषाएँ अन्तभूत हो गई हैं, फिर भी उन्हें काव्य-परिभाषा को एक विशेष रूप प्रदान करने का श्रेय अवश्य है। इस काव्य- परिभाषा के अन्तर्गत साहित्य की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह उनकी सर्वथा मौलिक व्याख्या है। उनके पूर्व के किसी भी आचार्य का इस ओर ध्यान न जा सका था। उन्होंने स्वयं भी लिखा है-"यह साहित्य इतने असीम समय की परम्परा में केवल "साहित्य" शब्द से प्रसिद्ध मात्र रहा है। कवि-कर्म-कौशल के कारण 'रमणीय' साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है, किन्तु आज तक किसी विद्वान् ने इस पर किंचित् भी विचार नहीं किया। इसलिए सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्द-बिन्दु-समूह से सुन्दर कवि-वचनों के आन्तरिक आमोद से मनोहर रूप में प्रस्फुटित होने वाले इस शब्द अर्थात् साहित्य को सहृदवमधुपों के समक्ष प्रकट करते हैं। अर्थात् साहित्य शब्द का प्रयोग अब तक काव्यादि के लिए ही होता रहा है, परन्तु उनके वास्तविक अर्थ का प्रकाशन अब तक किसी भी विद्वान् ने नहीं किया। अब तक इसका रसास्वादन ही हुआ है, विश्लेषण विवेचन नहीं।

वक्रोक्ति के भेदों का विवेचन आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का विवेचन जिस गहराई के साथ किया है, उसी सूक्ष्मता से उनके भेदों का विवेचन भी किया गया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भेदोपभेद ध्वनि के अनुकरण पर ही किये हैं, किन्तु उस भेद निरूपण में आचार्य कुन्तक की मौलिक चिन्तना स्पष्ट है। मूलरूप से वक्रोक्ति के छः भेद माने गये हैं।

1. वर्णविन्यास वक्रता-कुन्तक के ये छः भेद एक वैज्ञानिक क्रम के अनुसार हैं। साहित्य की सबसे छोटी इकाई वर्ण है, इसलिए उन्होंने सबसे पहले वर्णविन्यास सम्बन्धी वक्रता का ही विवेचन किया है। यह वर्ण-विन्यास अन्य आचायों द्वारा अनुप्रास के रूप में कहा गया है। एक या अधिक वर्षों के विन्यास से काव्य में जो चमत्कार पैदा होता है, उसका नाम वर्ण-विन्यास वक्रता है। कुन्तक ने मुख्यतः इस वक्रता के अन्तर्गत अनुप्रास तथा यमक अलंकारों का विवेचन किया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा विवेचित तीन वृत्तियों (उपनागरिका, पुरुषा और कोमला) का विवेचन भी कुन्तक ने इस वक्रता के अन्तर्गत किया है। वर्ण विन्यास सम्बन्धी वक्रता का विवेचन करते हुए कुन्तक ने यह भी कहा है कि वर्ण योजना प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए तथा उसमें असुन्दर वर्णों की योजना नहीं होनी चाहिये।

2. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता-शब्द के आरम्भ में उत्पन्न वक्रता अर्थात् मूल धातु से सम्बन्धित वक्रता को ही पद-पूर्वार्द्ध वक्रता कहते हैं। व्याकरण में पद-पूर्वार्द्ध का दूसरा नाम प्रकृति भी है। पद के दो अंग है- प्रकृति के प्रत्यय अथवा विभक्ति। अतः अक्षर विभक्ति रहित रहने पर प्रकृति और विभक्ति-

युक्त होने पर पद कहलाता है। पद पूर्वार्द्ध वक्रता के आउ मुख्य भेदहै-रूढ़ि, वैचित्र्य, वक्रता, पर्याय वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति वक्रता वृत्ति वक्रता, लिग वैचित्र्य-वक्रता तथा क्रिया-वैचित्र्य वक्रता। इनका सोदाहरण विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है-

(i) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता-जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के बल पर किसी शब्द के रूढ़ या वाच्य अर्थ को इस प्रकार परिवर्तित कर दे, जिससे उक्ति में सौन्दर्य आ जाए, उसे रूढ़ि- वैचित्र्य वक्रता कहते हैं जैसे-

तब ही गुन सोभा लहै, सहृदय जबकि सराहिं।

कमल-कमल है तबकि जब रविरकर सों विकसाहि।।"

इसमे 'कमल' के रूढ़ अर्थ का विस्तार करते हुए, उस पर कमनीय अर्थ का अध्यारोप किया गया है।

(ii) पर्याय-वक्रता-एक ही अर्थ के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, किन्तु कवि उनमे से किसी एक को चुनकर उक्ति में वक्रता या सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। इसी को पर्याय-वक्रता कहते हैं। जैसे- "अबला, जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।" यहाँ यदि अबला के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द 'नारी' रख दिया जाये, तो उसका मूल सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार कवि पर्यायवाची शब्दों का ऐसा चुनाव कर अपने काव्य में अपूर्व सौन्दर्य की उद्भावना कर देता है।

(iii) उपचार-वक्रता-कुन्तक के शब्दों में 'उप' अर्थात् सादृश्यवश गौण चरण अर्थात् व्यवहार को उपचार कहते हैं अर्थात् जहाँ अत्यन्त विभिन्न पदार्थों से अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता या एकता हो जैसे, "मुख रूपी चन्द्र।" अतः जहाँ भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो, ऐसी वक्रता का उपचार वक्रता कहते हैं। अमूर्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप तथा रूपाकावि अलंकार इसके अन्तर्गत आते हैं।

(iv) विशेषण-वक्रता-जहाँ विशेषणों की विचित्रता या वक्रता के कारण काव्य में सौन्दर्य हो, उसे विशेषण वक्रता कहते हैं। उदाहरणार्थ-

सशक्ति ज्योत्सना सी चुपचाप,

जड़ति-पद, नमितपलक दृग-पात।

(v) संवृत्ति-वक्रता-यहाँ वैचित्र्य-कथन की इच्छा से सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण या गोपन किया जाता है, वहाँ संवृत्ति-वक्रता होती है। जैसे-

"वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सूजान।"

अर्थात् इसमे "औरे कछू" सर्वनाम द्वारा संवृत्त कर नायिका के रमणीय रूप को प्रस्तुत कर दिया है।

(vi) वृत्ति-वक्रता-यहाँ वृत्ति से अभिप्राय कोमला, परुषा आदि वर्ण योजनाओं से न होकर व्याकरण के समास, तद्धित आदि वृत्तियों से है। इनसे सम्बन्धित वक्रता को ही वृत्तिवक्रता कहते हैं। जैसे-

"को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।" यहाँ "वृषभानुजा" में समास की वक्रता है।

(vii) लिंगवैचित्र्य-वक्रता-जहाँ सौन्दर्य लिंग प्रयोग पर आश्रित होता है, वहाँ लिगवैचित्र्य वक्रता होती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ सौन्दर्य की सृष्टि चमत्कार द्वारा होती है, वहाँ लिगवैचित्र्य वक्रता कहलाती है। इस वक्रता के अनेक रूप मिलते हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं- 1. विभिन्न लिगो का समानाधिकरण, 2 स्त्रीलिंग का प्रयोग, 3. विशिष्ट लिंग का प्रयोग। हिन्दी में अनेक प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। जैसे-प्रथम रश्मि का आना रंगिणी, तूने कैसे पहचाना ?

कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि। सीखा तू ने यह गाना।

(viii) क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता-धातु-रूप पद पूर्वार्द्ध पर आश्रित वैचित्र्य क्रिया वैचित्र्य-वक्रता में आता है। इसके पाँच रूप माने गये हैं-1 क्रिया के कर्त्ता के अत्यन्त अन्तरंगभूत होना, 2. कर्त्ता की अन्य कर्त्ताओं से विचित्रता, 3 क्रिया के विशेषण का वैचित्र्य तथा 4 उपचार मनोज्ञता तथा 5 कर्मादि संवृत्ति ।

3. पदपरार्ध वक्रता-इसका सम्बन्ध शब्द के उत्तरार्द्ध अंश या प्रत्यय आदि से है।

कुन्तक ने इसके 6 भेद किये हैं-1 काल में वैचित्र्य वक्रता, 2 कारक वक्रता, 3 संख्या वक्रता या वचन वक्रता, 4. पुरुष वक्रता, 5 उपग्रह वक्रता तथा 6. प्रत्यय वक्रता। उदाहरण देखिए- "पिय सों कहहु संदेसड़ा हे भौरा, हे काग। विकम्पित मृद उर, पुलकित गात ।।"

यहाँ 'संदेसड़ा' और 'विकम्पित' में क्रमशः 'ड़ा' और 'वि' के प्रयोग के कारण जो सौन्दर्य आ गया है, वह पदपरार्ध-वक्रता का उदाहरण है।

4. वाक्य वक्रता-यहाँ वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। स्वयं वक्रोक्तिकार के शब्दों में- "वस्तु का उत्कर्ष-युक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है, अर्थात् जहाँ किसी वस्तु या विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज वर्णन हो कि उसमें किसी प्रकार का अर्थ-सौन्दर्य उत्पन्न हो गया हो, उसे वाक्य-वक्रता कहते हैं।" इसके भी अनेक भेद ही किए गये हैं, जिनमें मुख्य दो माने गये हैं-स्वाभावोक्ति और अर्थालंकार। दोनों में क्रमशः उदाहरण देखिए-

(1) मैया, मोहित दाऊ बहुत खिजायौ

मोसौं कहज मोल कौ लीन्हों,

तोहि जसुमति कब जायो।

(2) उषा सुनहले तीर बरसती,

जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।

वस्तुतः वाक्य वक्रोक्ति के अन्तर्गत प्रमुख अलंकारों का समावेश हो जाता है। सूक्ति आदि नवीन वाक्य भंगिमाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं।

5. प्रकरण वक्रता-इस वक्रता के विषय में कुन्तक का अभिप्राय यह है कि सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु-वर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है, वह प्रकरण वक्रता है। प्रकरण का अर्थ है अनेक वाक्यों का समूह और प्रबन्ध का एक अंश। इस वक्रता का सम्बन्ध मुख्यतया प्रबन्ध काव्यों के कथा-विन्यास से है। जैसे प्रसिद्ध कथा में किसी नवीन प्रसंग की सद्भावना तथा नाटक के भीतर नाटक की योजना को कुन्तक ने प्रकरण वक्रता में शामिल किया है। एक ही पदार्थ का बार-बार रमणीय वर्णन या जल क्रीड़ा आदि का वर्णन भी इस वक्रता में शामिल है। संक्षेप में कथा के बीच में किसी ऐसे प्रसंग की योजना जो काव्य में चमत्कार की वृद्धि करे, प्रकरण वक्रता कहलाती है।

6. प्रबन्ध-वक्रता-अन्तिम वक्रता प्रबन्ध वक्रता का सम्बन्ध स्पष्ट ही प्रबन्ध काव्य से है। कुन्तक के ग्रन्थ का जितना अंश प्राप्त है, उसमें सात प्रकार की प्रबन्ध वक्रताओं का विवेचन है। इन सात प्रकार की वक्रताओं में नवीन रस योजना, कथा विकास में नवीनता, प्रबन्ध काव्य के नामकरण की कुशलता, एक कथा के भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत करना तथा नीति मार्ग का उपदेश देना शामिल है। इस प्रकार इस वक्रता में प्रबन्ध योजना के अनेक तत्व शामिलहै. जिनमें रस योजना भी है। आचार्य कुन्तक ने प्रबन्ध वक्रता के एक भेद के रूप में मूल स परिवर्तन को स्वीकार किया है। जहाँ आधारभूत ऐतिहासिक कथावस्तु में अन्यथा निरूपित रा सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी हृदय को आह्लाद करने वाले रस में पर्यवसान करने के उद्देश से कथा मूर्ति में परिवर्तन किया जाये, वहाँ मूल-रस परिवर्तन सम्बन्धी प्रबन्ध वक्रता होती है नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार जहाँ होता है, वह प्रबन्ध वक्रता का द्वितीय प्रकार होता है। तात्पर्य यह है कि चरित्र प्रधान-काव्यों के

सम्बन मे कभी-कभी कुशल कवि यह अनुभव करता है कि समस्त कथा-रस पुष्ट नहीं है। एक विशेो सीमा पर पहुंचने के बाद फिर वह पूरा इतिवृत्त कथन रह जाती है। अतः नायक के पूर्ण उत्का की स्थिति को चरम घटना मानकर प्रबन्ध का नाटकीय ढंग से समापन कर दिया जाता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक काव्य का प्राणतत्व स्वीकार किया है और इसी आधार पर अपने वक्रोक्ति जीवितम् की व्याख्य प्रस्तुत की है। वक्रोक्ति में वर्ण चमत्कार से लेकर प्रवन्ध चमत्कार तक काव्य के प्रायः सपं तत्व समाविष्ट कर लिये गये हैं। ऐसी स्थिति में वक्रोक्ति काव्य का व्यापक सिद्धान्त भी कर जाता है और काव्य-शास्त्र के समस्त कलेवर को अपनी सीमा में घेर भी लेता है।

2.6 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

हिन्दी मे कतिपय समीक्षको ने क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का ही एक विलायती उत्थान माना है। इन समीक्षको मे आचार्य शुक्ल अग्रणी हैं। इस सम्बन्य • में कुछ कहने से पूर्व क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद का संक्षिप्त अध्ययन उपयुक्त होगा।

क्रोचे के अनुसार कला आभ्यान्तर भावना अर्थात् सहजज्ञान (Intution) है, बाह्य वस्तु से उसका सम्बन्ध नहीं। कलाकार अपनी कलाकृति के द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। सहजज्ञान और अभिव्यञ्जना में भेद नहीं, इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि सौन्दर ही सहजज्ञान है अथवा सौन्दर्य ही अभिव्यञ्जना है। सहजज्ञान क्रोचे के अनुसार स्वयं प्रतिच्छवि (Image) है किन्तु यह प्रतिच्छवि उस प्रतिच्छवि से भिन्न है जो मन में प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन होती है उन्होंने सौन्दर्य को सहजज्ञान का धर्म माना है। अतएव उन्हें यह मानने में संकोच है कि बाह्याभिव्यक्ति सुन्दर होती है। कवि के हृदय में भावतरंगो का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। अतएव सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना भीतर ही भीतर होती रहती है, परन्तु क्रोचे यह मानते है कि कोई क्षण ऐसा आता है जबकि कलाकार भीतर की ऐसी अभिव्यञ्जना को बाहर प्रकाशित कर देता है. परन्तु वे समझते हैं कि बाहर प्रकाशित करने की क्रिया का कोई सम्बन्ध कला निर्माण से नहीं है।

सफल अभिव्यञ्जना से कलाकार को आनन्द मिलता है। मन की आभ्यन्तरकलात्मक क्रिया ही वास्तव में कलात्मक कृति है। मूर्ति, चित्र, काव्य आदि का उद्देश्य तो स्मरण दिलाना अथवा उत्तेजना प्रदान करना है, जिसके कारण कलाकार अपने सहजज्ञान को लौटा लाता है। अतएव उक्त मूर्ति चित्रादी को हम वास्तव में सुन्दर तभी कह सकते हैं जब वे सहजज्ञान (Intution) को लौटा पाने में समर्थ हो।जीवन का कोई भी रूप कलाकार की कृति के लिए उपयुक्त समझा जा सकता है। अतएवं उसके अच्छा या बुरा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कलाकार स्वतन्त्र है और स्वछन्द भी। परन्तु क्रोचे यह अवश्य मानते हैं कि जब कलाकार अपनी कला को बाह्य रूप देने लगता है, तब उसकी कलात्मकता का और स्वतन्त्रता का भी अन्त हो जाता है। कलाकार कला को आध्यान्तर रूप देने पर आश्यान्तर जगत में आ जाता है। बाह्य जगत सामाजिक है. जिस पर अर्थशास्त्र, सदाचार आदि का प्रभाव होता है और सामाजिकता तथा यह प्रभाव कलाकार की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं। इस प्रकार क्रोचे के अनुसार कलाकार की आन्तरिक अभिव्यञ्जना के सम्बन्ध में तो नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु कलाकार की बाहा अभिव्यञ्जना के सम्बन्ध में भले-बुरे का प्रश्न औचित्य पूर्वक उठा सकता है।

वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद में साम्य एवं वैषम्य

(क) साम्य-1. कुन्तक और क्रोचे दोनों ही काव्य-कला को आत्मा की अनिवर्चनीय क्रिया मानते हैं अर्थात् ऐसी क्रिया जिसका वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता।

2 कुन्तक और क्रोचे के अनुसार वस्तु का इतना महत्व नहीं जितना अभिव्यञ्जना का है क्योंकि उनके अनुसार सौन्दर्य का निवास वस्तु या भाव में नहीं, उक्ति में है।

3 कुन्तक और क्रोचे दोनों सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार- सफल अभिव्यञ्जना का नाम सौन्दर्य है और सफल अभिव्यञ्जना भी केवल एक हो सकती है, अनेक नहीं। अतएव कुन्तक ने रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम भेद को नहीं माना और क्रोचे ने सौन्दर्य का तारतम्य स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार अधिक सुन्दर अथवा अधिक अभिव्यक्ति में प्रयुक्त अधिक शब्द निरर्थक है। अभिव्यक्ति में न्यूनाधिकार को स्वीकार करना अभिव्यक्ति को सफल बनाना है।

(ख) वैषम्य-1 कुन्तक की वक्रोक्ति का सम्बन्ध उक्ति वक्रता से है और क्रोचे का केवल उक्ति से है। वक्रोक्तिवाद साहित्य का एक वाद है किन्तु अभिव्यञ्जनावाद अभिव्यञ्जना का दर्शन है। यदि वक्रोक्ति कवि कौशल है तो अभिव्यञ्जना आध्यात्मिक आवश्यकता है।

2. वक्रोक्ति में अलंकार के लिए अवकाश है परन्तु अभिव्यञ्जनावाद में अलंकार की सत्ता ही अमान्य है क्योंकि यदि अलंकार कभी आ भी जाता है तो वह केवल सहज उक्ति के रूप में।

3. कुन्तक ने वस्तु की सत्ता की उक्ति से पृथक मानी है और उसने वस्तु के दो भेद सहज और आहार्य किए हैं। कुन्तक के प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता प्रभृत्ति भेदों से वस्तु और कवि कौशल की पृथक् स्वीकृति प्रतीत होती है परन्तु क्रोचे वस्तु को उक्ति से अलग नहीं मानते। सूक्ष्म 4 वक्रोक्तिवाद में काव्य-कला के मूर्त रूपों का आधृत है किन्तु अभिव्यञ्जनावाद में आध्यात्मिक क्रिया ही सब कुछ है।

5. वक्रोक्ति का आधार कविकौशल है। अतः उसका रस से घनिष्ठ तथा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। अतः वक्रोक्ति चमत्कारपूर्ण होने पर भी रसहीन हो सकती है परन्तु अभिव्यक्ति सहजानुभूति पर आश्रित होने के कारण अनिवार्यतः रसान्वित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अभिव्यञ्जनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान नहीं है। वस्तुतः क्रोचे का सिद्धान्त मूलतः कलासृजन के सिद्धान्त का दार्शनिक विवेचन है। वह तो दर्शन से सम्बद्ध है और कला तो उसका एक आवान्तर विषय है। इन दोनों सिद्धान्तों में समता का आधार केवल अभिव्यञ्जना है परन्तु कुन्तक की अभिव्यञ्जना वक्रोक्तिमूला है और क्रोचे की सहानुभूतिरूपा। इस प्रकार दोनों का साम्य ऊपरी ही है।

ध्वनि सिद्धान्त : ध्वनि का स्वरुप, ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद गुणीभूत-व्यंग्य, चित्रकाव्य

2.7 सारांश

भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने कवि की अनुभूति को विशिष्ट पद-रचना द्वारा अभिव्यक्त करने के क्रम को मार्ग या रीति की संज्ञा दी है। काव्य रचना की इस 'रीति' का अध्ययन रीति-सम्प्रदाय में किया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्री साहित्य अथवा काव्य भाषा के 'पद संघटना क्रम' को 'विशिष्ट पद-रचना' या 'वचन-विन्यास' को ध्यान में रखकर रीति के स्वरूप को समझाने की कोशिश करते रहे हैं। उनके अनुसार काव्यभाषा की विशेष गुणों वाली पद रचना 'रीति' है। रीति से सम्बन्धित कुछ प्रसिद्ध परिभाषाएँ इस प्रकार से है- वामन के अनुसार रीति का अर्थ विशेष प्रकार की पद-रचना है। राजशेखर 'रीति' को 'वचन-विन्यास-क्रम कहते हैं। विश्वनाथ के अनुसार रीति का अर्थ पद का संयोजन' है। सिंहभूपाल के मतानुसार रीति का अर्थ 'पद-विन्यास भगिमा है। काव्य भाषा की पद-रचना या पद-विन्यास की विशिष्टिता उसमें निहित 'गुण' में होती है। इस प्रकार कुछ विशेष गुणों से समाविष्ट या गुण विशेष वाली पद-रचना ही रीति है और ऐसी ही रीति को आचार्य वामन काव्य की आत्मा मानते हैं। आचार्य वामन, रुद्रट, राजशेखर, आचार्य कुन्तक, भोज, सिंह भूपाल आदि प्रमुख रीति विवेचक आचार्य हैं। जिन्होंने रीति के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किए गए। वामन ने गुण को रीति का मूल तत्व मानते हुए शब्द और अर्थ के आधार-भेद से गुणों के दो वर्ग कर दियेः शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण। वामन के शब्द-गुण प्रायः सभी वर्ण-योजना, पद-बन्ध या शब्द समूह के चमत्कार है और अर्थ-गुणों का आधार अर्थ-सौंदर्य है। वामन के विचार से काव्य के शोभा-कारक धर्म गुण कहलाते हैं। मम्मटाचार्य तथा अन्य ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने दस गुणों के अस्तित्व से इन्कार करते हुए केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों को ही माना ये क्रमशः चित्त की दुति, दीप्ति और व्यापकत्व के सूचक है। आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं- वैदर्भी, गौडी तथा पाचाली। आचार्य रुद्रट ने एक चौथी 'लाटी रीति की कल्पना की। आचार्य कुन्तक ने रीति-विवेचन में क्रान्तिकारी बदलाव लाते हुए कवि स्वभाव के अनुरूप तीन रीतियों या मागों की कल्पना की (1) सुकुमार (2) विचित्र (3) मध्यम ।

2.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

1) रीति सम्प्रदाय की विवेचना के क्रम में 'रीति' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

2)आचार्य वामन के मतानुसार रीति कितने प्रकार की होती है।

3) प्रमुख रीति समर्थक आचार्यों का नामोल्लेख कीजिए।

4) रीति और गुण के विषय में चर्चा कीजिएं

2.9 पठनीय पुस्तकें

हिंदी साहित्य का इतिहास संपा. डॉ. नगेन्द्र, मयूर प्रकाशन
काव्यशास्त्र भागीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
काव्य के तत्व देवेन्द्रनाथ शर्मा, लोकभारती प्रकाशन
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
भारतीय एवं पाश्चात्यकाल सिद्धान्त गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन
काव्यार्थ चिन्तन जी. एस. शिवरुद्रप्पा, साहित्य अकादमी
भारतीय काव्यशास्त्र प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह. लोकभारती प्रकाशन
हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग श्रृंगार काल)
आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन

इकाई -3

ध्वनि सिद्धात: ध्यनि का स्वरूप, ध्वनि-सिद्धांत की प्रमुख स्थापनायें, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद गुणीभूत- व्यंग्य, चित्रकाव्य। औचित्य सिद्धान्त - प्रमुख स्थापनाएं, औचित्य के भेद।

रूप रेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 शब्द संपदा

3.4 ध्वनि सिद्धात: ध्यनि का स्वरूप,

3.5 ध्वनि और अन्य सम्प्रदाय

3.6 सारांश

3.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

3.8 पठनीय पुस्तकें

3.1 प्रस्तावना

ध्वनि शब्द की ही नहीं होती अपितु ध्वनि लोक में पद तथा अर्थ की प्रतीति कराने बाला तत्व है। आनन्दवर्धन ने अपनी रचना ध्वन्यालोक' के माध्यम से ध्वनि सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया। आरंभ में ध्वन्यालोक' के रचयिता को लेकर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं था किंतु कालान्तर में उस विवाद पर विराम लग गया और आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वन्यालोक का रचयिता होने के कारण आनन्दवर्धन निर्विवाद रूप से ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाने लगे। ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्थापित करने वाले आचार्य के रूप में आनन्दवर्धन की प्रतिष्ठा है। आनन्दवर्धन से पहले भी ध्वनि की चर्चा हुई किंतु उसका व्यवस्थिति विवेचन आनन्दवर्धन ने ही किया। ध्वनि का सीधा संबंध शब्द शक्तियों से है। इसीलिए शब्द शक्तियों के आधार पर ध्वनि का वर्गीकरण भी किया गया। इसी प्रकार रस और अलकार के आधार पर भी ध्वनियों चिह्नित की गई। ध्वनि सिद्धात शैव दर्शन तथा स्फोट सिद्धात से भी जुड़ा हुआ है। स्फोट ही ध्वनियों का आधार है। मंदिर के घंटे में होने वाला ध्वनि का अनुरणन ही शब्द का अर्थ व्यजित करता है। रमणीय और चमत्कारपूर्ण अर्थ व्यजित में वाली ध्वनियाँ ही वास्तव में श्रेष्ठ होती हैं। कुल मिलाकर ध्वनि व्याकरण तथा दर्शन दोनों स्तरों पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी महत्ता इन दोनों ही स्तरों पर मानी जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का उल्लेखनीय स्थान एवं महत्व है।

3.2 उद्देश्य

ध्वनि का अर्थ समझ सकेंगे,
ध्वनि सम्प्रदाय के बारे में जान सकेंगे,
ध्वनि की अवधारणा एवं स्वरूप से परिचित हो सकेंगे,
ध्वनि के विभिन्न प्रकारों से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

3.3 शब्द संपदा

स्फोट: स्टोफ को स्फुटित शब्द या अर्थ माना जाता है। वैयाकरणों के अनुसार स्फोट नित्य शब्द है तथा ध्वनि श्रूयमाण और अनित्य शब्द है।
गुणीभूत व्यंग्य : जहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से श्रेष्ठ अथवा उत्तम नहीं होता अर्थात् वाच्यार्थ के समान ही होता है अथवा उससे कमतर होता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद किए गए हैं।
अलंकार ध्वनि: जहाँ विशिष्ट शब्द प्रयोग के कारण मुख्य रूप से अलंकार का बौध होता है उसे अलंकार ध्वनि कहा जाता है।
लक्षणामूलाध्वनि : जिसके मूल में लक्षणा हो अर्थात् लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती हो और व्यग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित हो यह लक्षणामूलाध्वनि कहलाती है। इसके दो भेद हैं।

कवि प्रौडोक्ति जो वस्तु केवल कवियों की कल्पना से ही सिद्ध होती है. व्यावहारिक रूप से उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि नहीं होती उसे कवि प्रौढोक्ति कहा जाता है। कलक का रंग काला मानना, विरह में जलना, धन का काला होना इसके उदाहरण है। प्रत्यक्षत ऐसा नहीं होता।

ध्वनि सिद्धात: ध्यनि का स्वरूप, ध्वनि-सिद्धांत की प्रमुख स्थापनायें, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

गुणीभूत- व्यंग्य, चित्रकाव्य। औचित्य सिद्धान्त - प्रमुख स्थापनाएं, औचित्य के भेद।

3.4 ध्वनि सिद्धात: ध्यनि का स्वरूप,

भारतीय 'काव्य सम्प्रदाय' के क्षेत्र में आचार्य आनन्दवर्धन का प्रवेश अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। आनन्दवर्धन का समय 840 से 870 ई. तक निर्धारण किया जाता है। इनका ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' इसी काल की रचना है। ध्वनि तत्व के विवेचक आनन्दवर्धन का व्यक्तित्व साधारण था। ध्वनि तत्व के प्रबल विरोधी भी बड़े प्रतिभावान थे, वे भी इसी समय में हुए। मुकुल, भट्टनायक, कुन्तक, धनंजय, महिमभट्ट भोज आदि ध्वनि के विरोधी आचार्य थे। ध्वनि की परम्परा ध्वनिकार के पहले ही प्रारम्भ हो गई थी। आनन्दवर्धन ने स्वयं लिखा है-"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः ।"

इस उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ पूर्व के ध्वनिकारों का नहीं मिलता है। व्युत्पत्ति और अर्थ- 'ध्वनि' शब्द का निर्माण ध्वन् धातु और 'ड' प्रत्यय के संयोग से हुआ है। इसका अर्थ है कानों में सुनायी पड़ने वाला नाद। इस अर्थ के पाँच रूप माने जा सकते हैं-

1. ध्वनति, ध्यनयति इति व ध्वनि अर्थात् जो ध्वनित करें या कराये वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य शब्द से है।
2. ध्वन्यत इति ध्वनि-अर्थात् जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य वस्तु रस अलंकार से हैं।
3. ध्वन्यत अनेन इति ध्वनि-अर्थात् जिस कारण के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति ही वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य शब्दशक्ति से है।
4. ध्वनन ध्वनि-अर्थात् ध्वनित होने का भाव ध्वनि है। इसके पर्याय हैं, अभिव्यंजन, सूचन आदि।
5. ध्वन्यत अस्मिन्निति ध्वनि अर्थात् जिसमें ध्वनित हो, उससे ध्वनि कहते हैं। इसका तात्पर्य काव्य (अथवा ध्वनिकाव्य) से हैं।

इस प्रकार शब्द का अर्थ-व्यंजक शब्द व्यंजित अर्थ, व्यंग्य रसादि, व्यंग्य काव्यादि तथा व्यंजना व्यापार है। ये पाँचों अर्थ परस्पर सम्बद्ध है और एक संश्लिष्ट क्रिया के विभिन्न रूपों का द्योतन करते हैं।

ध्वनि की परिभाषा-जहाँ अर्थ स्वयं तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि की संज्ञा से अभिहित किया है।

वह काव्य ही ध्वनि कहलाता है, जिसमें कथित शब्द और अर्थ स्वयं अप्रधान होकर व्यंग्य अर्थ को प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने लिखा है कि विशिष्ट वाचक रूप शब्द उस अर्थ को प्रकट करते हैं तब उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं। इस स्वादु अर्थ को बिखेरती हुई महाकवियों की वाणी अलौकिक तथा प्रतिभा विशेष को व्यक्त करती है। यों तो प्रत्येक शब्द या वाक्य से कोई न कोई व्यंग्य अर्थ निकाला जा सकता है, तो क्या प्रत्येक व्यंग्यार्थ को व्यंग्यार्थ कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि सभी प्रकार का 'व्यंग्य' काव्य नहीं, केवल 'चमत्कारी व्यंग्य' काव्य है। रमणियों में जिस प्रकार सौन्दर्य के अतिरिक्त लावण्य होता है, उसी प्रकार शब्द के 'वाच्यार्थ' अतिरिक्त 'प्रतीयमान' अर्थ होता है, जिसे केवल सहृदयता समझ सकते हैं।

इस सन्दर्भ में ध्वनि के इतिहास पर विचार कर लेना समीचीन होगा। 'ध्वन्यालोक' में 'ध्वनि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिलता है, यो सुरभि शब्द से प्रतीत होता है कि ध्वनि की चर्चा पहले भी होती होगी। इसकी रचना 874 ई. के लगभग हुई होगी। इसको किसने लिखा ? इसके विषय में मतभेद है। 'ध्वन्यालोक' के तीन भेद हैं-कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसमें से अन्तिम दो भागों को आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा, इस पर मतभेद नहीं किन्तु कारिकाओं को किसने लिखा, इस विषय में आनन्दवर्धन के अतिरिक्त 'ध्वनिकार' (अथवा 'सहृदय'?) का नाम भी सुझाया जाता है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि प्रतिपूर्ण टीका की है, जिसका नाम 'लोचन' है। इस टीक से यह प्रकट होता है कि उक्त ग्रन्थ पर 'चन्द्रिका' नाम की भी कोई टीका लिखा गई थी, जो अब अप्राप्य है। अभिनव गुप्त अनन्तर मम्मट ने अपने 'काव्य शास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त को व्यस्तता और स्थिरता प्रदान की। यद्यपि उन्होंने काव्य की जो परिभाषादी उसमें शब्द, अर्थ, गुण, दोष, अलंकार का उल्लेख तो किया है, किन्तु ध्वनि और रस के भुला

दिया है और इस कारण विश्वनाथ ने उन्हें आड़े हाथों लिया है। आनन्दवर्धन से रस. ध्वनि की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया और अभिनव गुप्त ने उसे अनिवार्य भी सिद्ध किया परन्तु विश्वनाथ ने रस पर आग्रह कर वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि को काव्य से बहिष्कृ कर दिया। हाँ उन्होंने काव्य के प्रथम दो भेदों अर्थात् ध्वनि का और गुणीभूत व्यंग्य को मान्य समझा। पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता की दृष्टि से ध्वनि का आदर किया और कार को चतुर्विध बताया- उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम।'

हिन्दी काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त-हिन्दी के रीतिकाल के बहुसंख्यक आचा सिद्धान्ततः रसवादी थे। मुख्यतः उत्तर ध्वनि काल के उन संस्कृत आचार्यों से प्रेरणा ग्रहण के थी जिन्होंने श्रृंगार रस पर विशद् विवेचन प्रस्तुत किये थे। दूसरा विषय अलंकारों का था जिसर बहुतेरे रीतिकारों को आकर्षित किया था। रीतिकारों की तीसरी परम्परा में उन थोड़े से ग्रन्थकार का उल्लेख किया जाता है। जिन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित व्यापक काव्य शास्त्रीय दृष्टिकोण का अनुमान किया था। इस वर्ग के अन्तर्गत निम्न आठ ग्रन्थों को लिया जा सकता है-
(1) रस-रहस्य (कुलपति मिश्र) (2) रसिक रसाल (कुमारमणि मिश्र) (3) काव्य सरोज (श्रीपति) (4) रस पीयूष निधि (सोमनाथ) (5) काव्य रसायन (देवदत्त) (6) काव्य निर्णय (भिखारीदास) (7) काव्यसिद्धान्त (सूरति मिश्र) (8) व्यंग्यार्थ कौमुदी (प्रतापसिंह)।
इन ग्रन्थों पर मम्मट और विश्वनाथ की कृतियों का प्रभाव स्पष्ट है। इन ग्रन्थों के विवेचन में स्पष्टता, सूक्ष्मता, कसावट और मौलिकता का सर्वथा अभाव है। लक्षणों में अपूर्णता औ भ्रामकता है। वस्तुतः रीतिकालीन आचार्यों में न तो शास्त्रकारों की-सी प्रतिभा है और न ही शैली है। इसके अतिरिक्त उनके पास गद्यमय विवेचन की परम्परा का भी अभाव है।
आधुनिक काल में ध्वनि विवेचक आचार्यों में तीन नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है-
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य रामदहिन मिश्र तथा डॉ. नगेन्द्र। शुक्लजी वाच्यार्थ में ही चमत्का मानते है तथा वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि के रस श्रवण होने पर उन्हें काव्य की परिधि में ग्रहण करते हैं।। हैं। मिश्रजी ने प्राचीन पद्धति पर ध्वनि विवेचन किया है और नगेन्द्रजी ने रस तथा ध्वनि सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया है।
ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं। यद्यपि आनन्दवर्धन ने कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों को ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाला बताया है- अपने
काव्यास्यात्मा ध्वनि रिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः
तस्याभाव जगदुरपरे भक्तमाहु स्तमन्ये ।
(काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह सिद्धान्त कुछ विद्वान कर चुके हैं। कुछ ने इस सिद्धान का विरोध किया है एवं कुछ ने इसका अन्तर्भाव अन्य सिद्धान्तों में किया है।)
वस्तुतः आनन्दवर्द्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों- भरत मुनि, भामह, दण्डी, वामन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं स्वीकार किया है। सम्भवतः आनन्दवर्द्धन अपने सिद्धान्त की प्राचीनत
सिद्ध करने के लिये यह स्वीकार करते हों।

3.5 ध्वनि और अन्य सम्प्रदाय

1. ध्वनि और रस सम्प्रदाय ध्वनि सम्प्रदाय की 'रस ध्वनि' रस सिद्धान्त की मान्यता प्रस्थापित करती है। उनके अनुसार ध्वनि काव्य की आत्मा है और रस ध्वनि की आत्मा है। रस को ध्वनि से पृथक नहीं किया जा सकता और ध्वनि के बिना रस की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि रस ध्वनित होता है। वह व्यंग्य है, उसकी अभिव्यक्ति वाचक शब्दों के द्वारा नहीं हो सकती। ध्वनि के द्वारा ही रस का विस्तार होता है और उसे महत्व प्राप्त होता है। रस भावना का विषय है तो ध्वनि कल्पना का। ध्वनि अपने में एक विराट काव्य तत्व है, जिसमें रस, अलंकारादि सभी समाविष्ट हो जाते हैं, किन्तु रस अपेक्षाकृत परिमिति तत्व हैं जो ध्वनि के अभाव में चल नहीं सकता। रस तो सर्वथा ध्वनित ही होता है और ध्वनि के बित्ता इसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है अर्थात् रस की अभिव्यक्ति ध्वनि पर ही आश्रित है।
(भारतीय आलोचनाशास्त्र डॉ. हीरा)
डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, "दोनों में भेद केवल यही है कि रस सिद्धान्त जहाँ कल्पनात्मक भावना को कवितत्व का प्राण तत्व मानता है, वहाँ ध्वनि सिद्धान्त भाव-रंजित कल्पना को और यह भेद वास्तव में इतना सूक्ष्म है कि कालांतर में इसका एक प्रकार से लोप हो जाता है।"

2. ध्वनि और अलंकार-ध्वनिवादी आचार्य अलंकारों को ध्वनि का अंग ही स्वीकार करते हैं। इन्होंने अलंकारों में शब्दार्थ की चारूता सिद्ध कर ध्वनि को महान कहते हुए अलंकारों का समाहार ध्वनि में किया है। ध्वनि की चारूता व्यंग्य-व्यंजक भाव पर आश्रित है तो अलंकार का चमत्कार शब्दार्थगत होता है। अतः अलंकार ध्वनि का अंग है और ध्वनि अंगी। आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर उसे अलंकार्य सिद्ध करते हैं। ध्वनिकार के अनुसार रसादि के अंग-रूप में ही अलंकार की विवक्षा होती है, अलंकार प्रधान साधन मानकर उसे काव्य में स्थान नहीं देना चाहिए। बिना किसी प्रयत्न के हो यदि काव्य में अलंकारों का विधान हो, तो वे ही अलंकार ध्वनि सिद्धान्त में मान्य होंगे।
(डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा')

3. वक्रोक्ति और ध्वनि-वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक अभिधा के पक्षधर है, जबकि ध्वनि सिद्धान्त व्यंजना के महत्व को स्वीकार करता है। डॉ नगेन्द्र के अनुसार आनन्दवर्धन कल्पना को आत्मगत मानते हैं। अर्थात् कल्पना से तात्पर्य प्रमाता की कल्पना से है। सत्काव्य प्रमाता की कल्पना को उद्बुद्ध कर सिद्धि-लाभ करता है। कुन्तक कल्पना को वस्तुगत मानते हैं, उनकी दृष्टि से यह है तो मूलतः कवि की ही कल्पना, किन्तु रचना के उपरान्त कवि के भूमिका से हट जाने के कारण, वह अब काव्य में सन्निविष्ट हो गयी है, अतः उसकी स्थिति काव्य में वस्तुगत ही रह जाती है।
(वक्रोक्ति जीवित की भूमिका)

4. औचित्य और ध्वनि-आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य का आत्म तत्व मानते हुए रस, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि के साथ ही साथ औचित्य को भी उसका एक गुण स्वीकार किया। उनकी मान्यता है कि काव्य में रस, अलंकार आदि के विधान हेतु औचित्य आवश्यक है।

5. रीति और ध्वनि- ध्वनिकार ने रीति की वर्ण-योजना एवं समास का समाहार वर्ण- ध्वनि में करते हुए रीति को ध्वनि का अंग माना है। रीति गुण पर आश्रित है और गुण के दस भेदों का अंतर्भाव तीन गुणों में करते हुए ध्वनिकार ने उसे असंलक्ष्यक्रम में अंतर्भूत किया है। इस प्रकार रीति, जो स्वतः गुणाश्रित है, ध्वनि का अंग बन जाती है और उसकी आत्मसंस्थापनीयता खंडित हो जाती है।
(डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा')

ध्वनि भेद

व्यंजना व्यापार से प्राप्त अर्थ को ध्वनि कहते हैं। आचार्यों ने ध्वनि के बहुत से भेद किये हैं। स्थूल रूप से ध्वनि दो प्रकार की होती है- अभिधामूला ध्वनि और लक्षणामूला ध्वनि।

1. अभिधामूला ध्वनि-अभिधामूला ध्वनि में सीधे वाच्यार्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है। शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अभिधामूला ध्वनि में वाच्य वियक्षित होता है, पर उसका पर्यावसना व्यंग्य प्रतीति में होता है। इसलिये इससे 'विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' भी कहा जाता है। लक्षणामूला में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है अर्थात् लक्षणाक में वाच्य विवक्षित ही नहीं होती, इसीलिए इसे 'अविविक्षतवाच्य' भी कहते है। अभिधान के भी विद्वानों ने दो उपभेद माने हैं। अभिधामूल ध्वनि का यह वर्गीकरण अभिव्यक्ति के। से किया गया है। व्यंग्यार्थ जब अभिव्यक्त होता है तब उस अभिव्यक्ति व्यापार में जो होता है वह ध्यान में आएगा या नहीं, इसकी दृष्टि में रखकर यह वर्गीकरण किया गया है 2. संलक्ष्यक्रम ध्वनि-जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ संलक्ष्यत्र ध्वनि होती है।

(क) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि-जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक साथ ही ध्वनित हो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है।असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भी आठ भेद माने गये हैं, रस, रसाभाव, भाव, भावमा भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव प्रबलता ।

संलक्ष्यक्रम के भी तीन भेद किये गये हैं। शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन, अर्थशक्ति उद अनुरणन और उभयशक्ति उद्भव अनुरणन।

ध्वनि का यह वर्गीकरण व्यंजक मुख के आधार पर किया गया है शब्दशक्ति उ अनुरणन ध्वनि के भी वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि भेद बताये गये हैं। अर्थशक्ति उद्ध अनुरमन ने पर्यायवाची शब्द के प्रयोग होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं पड़र जहाँ कुछ पदों का परिवर्तन होने पर कुछ का परिवर्तन न होने पर व्यंग्य सूचित होता है उभयशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि कहते हैं।

(ख) लक्षणामूला ध्वनि-लक्षणामूला ध्वनि के आचार्यों ने सर्वप्रथम दो भेद किये हैं. (i) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि-अर्थान्तर संक्रमित में वाच्य थोड़ा सा ही अपेक्षित होता है।

(ii) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि- अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में लक्ष्यार्थ पूर्णरू से उपेक्षित होता है।

अभिधामूला की भाँति लक्षणामूला के भी अनेक उपभेद किये गये हैं। ध्वनि का श वर्गीकरण व्यंग्यमुख से भी किया गया है। इस आधार पर ध्वनि के तीन भेद किये गये हैं- वस्तु ध्वनि, अलंकार, ध्वनि और रस ध्वनि। इस प्रकार वाच्यमुख से व्यंजना व्यापार मुखः तथा व्यंग्यमुख से ध्वनि के वर्गीकरण किये गये हैं।

ध्वनि के तीन भेद हैं-वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रस ध्वनि। शब्द तथा अर्थ व्यंग्या को अभिव्यक्त करते हैं। अतः वे व्यंजक हैं शब्द और अर्थ में जो व्यंजना व्यापार होता है उसने द्वारा ध्वन्यर्थ अभिव्यक्त होते हैं। अतः ध्वन्यर्थ तथा शब्दार्थ में व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध होता। वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि के दो भेद-शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना दोनों में होती है काव्य के तीन भेद-व्यंग्यार्थ के दृष्टिकोण से आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद कि हैं-उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य।

1. उत्तम काव्य-इसे ध्वनि काव्य भी कहते हैं, क्योकि इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्या अधिक उत्कृष्ट होता है।

2. मध्यम काव्य-इनमें वाच्यार्थ के समान ही व्यंग्यार्थ उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होत है। ऐसा काव्य गौण काव्य समझा जाता है, इसीलिए इसे गुणीमत व्यंग्य भी कहते हैं।

3. अधम काव्य-इसमें किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ नहीं रहता, मात्र अलंकारों का कौतु रहता है और ये अलंकार भी ऐसे होते हैं जिनमें व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव बना रहता है। अत आनन्दवर्धन ऐसे काव्य को काव्य नहीं मानते। वे ऐसे काव्य को काव्य की नकल अथव काव्यानुकांत समझते हैं।ध्वनि विरोध-ध्वनि-विरोधी आचार्यों ने ध्वनि के प्रमुख आधार व्यंजना शक्ति को ही अस्वीकार कर दिया था। फिर ध्वनि तो अपने आप अस्वीकृत हो जाती है। उन्नता शक्ति को ही को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है-

(1) व्यंजना की अभिधा से पृथक सत्ता नहीं होती है।

(2) प्रतीकमान या व्यंग्य अर्थ के बोध का आधार अनुमान है, अतः व्यंजना एवं ध्वनि को मानने की आवश्यकता नहीं है।

(3) व्यंजना की लक्षणा से पृथक सत्ता नहीं होती है।

(4) समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में इसे समेटा जा सकता है। इनमे से अनेक आपेक्षों का खण्डन आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में किया है। यहाँ विरोधी मतों के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। 1 व्यंजना की अभिधा से पृथक सत्ता नहीं होता है। यह कथन अभिधावादी आचार्यों का था। इनमें भी पाँच वर्ग-अभिहितान्यवादी, अन्विताभिधानवादी, दीर्घराभिधानादी फारवादयों निमित्तवादी और तात्पर्यवादी थे।

अभिहितान्यावादी भाट्टमीमांसक नैयायिक तथा वैशेषिक तात्पर्यवृत्ति को स्वीकारते हैं। उनका मत था कि शब्दों में हमें शब्द-शक्ति के द्वारा पद-अर्थों का ज्ञान होता है। शब्दों से ज्ञात हुए (अभिहित) पद अर्थों का अन्वय होता है और इस अन्वय के द्वारा हमें वाक्यार्थ ज्ञात होता है। शब्दों का अर्थ अभिधाशक्ति द्वारा ग्रहण होता है और शब्दों के परस्पर सम्बन्ध से वाक्यार्थ ज्ञात होता है। इन शब्दों के परस्पर सम्बन्ध को तात्पर्य नामक स्वतन्त्र वृत्त के नाम से इन लोगों को स्वीकार। व्यंग्यार्थ को वे तात्पर्यार्थ की अग्रिम अवस्था मानते थे। इसलिए इनका कथन था कि अभिधा से पृथक व्यंजना का अस्तित्व नहीं है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मीमांसक तात्पर्यवृत्ति को नहीं स्वीकारते। इनका मत था- शब्दों का अर्थ स्वतन्त्र रूप में बोध नहीं होता है बल्कि पहले पदार्थों का स्वतन्त्र रूप में बोध तथा इसके अनन्तर उन पदार्थों में परस्पर अन्वय समझाने के लिये तात्पर्य समझने के लिए- तात्पर्य वृत्ति ऐसी प्रक्रिया मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः हम पदार्थों का जो अर्थ समझते हैं वह अन्वित दशा में ही समझते हैं। इस प्रकार वाक्य में अन्वित पदार्थों का ही शब्दों द्वारा अभिधान होता है।

निमित्तवादी आचार्यों का मत था कि व्यंग्यार्थ का निमित्त शब्द एवं अभिधाशक्ति है। शब्द और प्रतीकमान अर्थ के कारण कार्य सम्बन्ध मानकर वे व्यंग्यार्थ के अस्तित्व को मानने से अस्वीकार कर देते हैं।

दीर्घतराभिधाव्यापारवादियों का मत था कि शब्द और वाक्य से जितने भी अर्थों का बोध होता है वह सारा बोध अभिधाशक्ति के द्वारा ही होता है। उनका कथन था कि अभिधाशक्ति एक अर्थबोध करके समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि वह अन्य अर्थों की प्रतीति भी कराती है। वाक्य से बोध होने वाले वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ आदि सभी अकेली अभिधा शक्ति के द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

तात्पर्यवादी आचार्य धनिक व्यंजना के स्थान पर तात्पर्य शक्ति को मानते हैं। उनका मत था- प्रतीकमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं होता है। इसीलिए इस प्रतीकमान अर्थ का प्रतिपाद्य व्यंजना व्यापार को नहीं माना जा सकता है और न ही उसका व्यंजक काव्य ही ध्वनि है। धनिक के अर्थबोध की सारी शक्ति को तात्पर्य के मत्थे मढ़ दिया।

2. लक्षणा से पृथक् अस्तित्व व्यंजना को न स्वीकारने वाले लक्षणवादी आचार्य थे। इनके विचारानुसार मुख्यार्थ बाधक होने पर जिस तरह लक्ष्यार्थ ग्रहण होता है उसी तरह वाच्यार्थसे संगत न बैठने पर ही प्रतीकमान अर्थ का प्रतीति होती है। अतः प्रतीकमान अर्थ लक्ष्यार्थ का ही एक प्रकार हैं।

3. प्रतीकमान अर्थ या व्यंग्यार्थ अनुमान से ग्रहण होता है, इस मत का प्रतिपादन आचार्य महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ 'व्यक्ति-विवेक' में किया है। इनका कथन है कि ध्वनि अनुमान से पृथक कुछ नहीं है, इसलिए ध्वनि के स्थान पर 'काव्यानुमति' माना है। अर्थ के ये दो भेद करते हैं

(अ) वाच्य और (ब) अनुमेय।

4 समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में समेटने का प्रयत्न करने वालो का उत्तर देते हुए ध्वनि ने कहा-अलंकारों में ध्वनि की तरह व्यंग्यार्थ को प्रमुखता नहीं प्राप्त होती है और न ही व्यंग्यार्थ की तरह वे व्यापक ही है।

वस्तुतः इन उपर्युक्त तर्कों के सोपान से होकर ही ध्वनि सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ था। यह एक विकास क्रम हैं जो तर्की का सहारा लेकर परिपुष्ट होता रहा। कालान्तर में ध्वनि सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को एक अद्वितीय नींव पर स्थापित किया, जिसमें पूर्व सिद्धान्तों के औचित्य को स्वीकारते हुए ध्वनि की व्यापकता में सबको समाहित या सहायक स्वीकार कर लिया। अन्य सिद्धान्तों की अनावश्यक अनिवार्यत को तर्क की भूमि पर बड़ी स्पष्टता से स्वीकार भी कर दिया।

ध्वनि और रस-उक्ति के द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होतं है, अर्थात् व्यंजन का ध्वनन होता है। अतः ध्वनिकार ने उसे मात्र रस न मानकर, रस ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार काव्य का विविध वर्गीकरण हुआ-उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम काव्य भी विविध है- रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि। अतः ध्वनिवादियों के अनुसुर भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व रस है। डॉ नगेन्द्र मनोवैज्ञानिक आधार पर यह स्पष्ट करते हैं कि सहृदय को काव्य का केवल अर्थबोध नहीं होता, अपितु उसके हृदय में कवि के हृदय की-सी रागात्मक अनुभूति होती है। सहृदय के दृष्टिकोण से रस रागात्मक अनुभूति है, जो न बोधव्य है और न वाच्य ही अतः कवि को अपने भाव-सम्प्रेषण के लिये भाषा का ऐसा असाधारण प्रयोग करना पड़ता है, जो सहृदय में अतिरिक्त कल्पना को जागृत कर सके। डॉ. नगेन्द्र कहते हैं- "ध्वनि की स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पनात्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।" ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता- ध्वनि सिद्धान्त बड़ा ही विशद है। रस और अलंकार ध्वनि सिद्धान्त के आधार स्तम्भ है। ध्वनि के प्रतीकमान अर्थ को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। इससे या भी ध्वनित होता है कि कवि अपनी वाणी से जो कुछ अभिव्यक्त करे वह अपने आप में दोहो अर्थ रखता है। सम्भवतः इसके निवारणार्थ वस्तु एवं अलंकार ध्वनि की कल्पना की गई है। ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता इस बात में देखी सकती है कि इसके बाद प्रतिपादन होने वाले वक्रोक्तिवाद जा एवं औचित्यवाद भी काव्य लक्षण की परिधि से बाहर न आ सके और न कोई परवर्ती आचार्य इसके मूल स्वरूप को विकृत ही कर सका। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार ध्वनि सिद्धान्त की सर्वमान्यत का मुख्य कारण यही था कि उन्होंने अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का समावेश ध्वनि में कर दिया। 'ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण रीति, अलंकार आदि का समाहार हो सकता था, वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति औचित्य भी उससे बाहर नहीं ज सकते थे।" डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, ध्वनिकार की सिद्धि दो प्रकारे से हुई-

(1) रीति, अलंकार वक्रता आदि भी रस की भाँति व्यंग्य ही रहते हैं।

(2) गुण, रीति, अलंकार आदि तत्व वाच्यार्थ के द्वारा मन को सीधे आल्हाद नहीं देते. किन्तु रस को उपकार करते हुए अपने अस्तित्व को सार्थक करते हैं

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन माने जाते हैं, जिन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ ध्वन्यालोक में इस तत्व को सर्वप्रथम व्यवस्थित व्यापक और स्वच्छ रूप में प्रतिपादित किया। वामन से पूर्व के आचार्यों भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी आदि आचार्यों ने यद्यपि ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया फिर भी अनेक अलंकारों के लक्षणों अथवा उदाहरणों में, स्पष्ट अथवा प्रकारान्तर से ध्वनि तत्व के संकेत मिल जाते हैं।

आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। आनन्दवर्धन के उपरांत ध्वनि तत्व का खण्डन किया गया। आगे चलकर मम्मट न अपने मार्मिक विवेचन द्वारा ध्वनि की पुनः स्थापना की। ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में पाँच विभिन्न अर्थों में मिलता है-

(1) व्यंजक शब्द ।

(2) व्यंजक अर्थ।

(3) व्यंजना शब्द शक्ति

(4) व्यंग्यार्थ।

(5) व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य ।

विवेच्य प्रकरण का प्रतिपाद्य व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य है।

ध्वनि सिद्धान्त से पूर्व अलंकार, रीति तथा रस-सिद्धान्तों की त्रुटियों को पहचानते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना से सम्बद्ध ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तत्व का प्रवर्तन किया, जो आन्तरिक तत्व भी है और व्यापक भी।

ध्वनि या लक्षण

आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) अपनी-अपनी सत्ता को गौण करके जिस विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं वह ध्वनि अर्थात् व्यंग्यार्थ कहलाता है। महाकवियों की वाणी से प्रसिद्धार्थ से जो अतिरिक्त अर्थ द्योतित होता है वह ध्वनि अपना व्यंग्यार्थ कहलाता है। वाच्यार्थ की यह भिन्नता उस प्रकार होती है जिस प्रकार नारी के अंगों से फूटता हुआ लावण्य उन अंगों से भिन्न रूप से भाषित होता है। संक्षेप में वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यंग्यार्थ अर्थात् ध्वनि कहलाता है। इस व्यंग्यार्थ को आनन्दवर्धन ने और उसके अनुकरण में मम्मट और जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा माना है।

इस प्रसंग में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर भी जान लेना चाहिए। यह अन्तर निम्नोक्त आठ तत्वों पर आधारित होता है।

1. निमित्त कारण-वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का प्रतिभा-नैर्मल्य। 2. आश्रय-वाच्यार्थ का आश्रय शब्द से है, पर व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द वर्ण अथवा संघटना आदि है और अभी-अभी चेष्टा आदि भी।3. कार्य-वाच्यार्थ का कार्य वस्तु मात्र की प्रतीति कराना है, पर व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कार प्रतीति कराना है।

4. काल-वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति बाद में।

5. विधा और संख्या-एक वाच्यार्थ सब विधाओं के लिए एक समान होता है, पर

व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न विधाओं के लिए अलग-अलग होता है।

6. विषय-कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है, पर व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति ।

7. स्वरूप-कहीं वाच्यार्थ विधि रूप होता है तो व्यंग्यार्थ निषेध रूप, कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक होता है तो व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक, कहीं वाच्यार्थ निन्द्य परक होता है तो व्यंग्यार्थ स्तुति परक। इसी प्रकार कहीं स्थिति इस स्थिति के ठीक विपरित भी हो सकती है।

ध्वनि के भेद

आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के भेदोपभेदों को आगे बढ़ाते हुए मम्मट ने ध्वनि काव्य के पहले 51 भेद माने जो परस्पर संयोजन द्वारा कई सहस्त्र तक जा पहुँचते हैं, किन्तु इसमे से पाँच भेद प्रमुख हैं- (1) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि, (2) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि, (3) वस्तुध्वनि, (4) अलंकार ध्वनि और (5) रस ध्वनि।

कुछ विद्वानों के इस बारे में मतभेद होते हुए भी ध्वनि के उपर्युक्त पाँच भेद ही स्वीकार करने चाहिए। नीचे इनका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है-

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि-यह ध्वनि वहाँ मानी जाती है, जहाँ वाच्यार्थ अन्य अर्थ (व्यंग्य) से संक्रमित हो जाता है। यथा-

"सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद नमचाही।
कैसे पूर्जु गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही।"

यहाँ 'सिपाही' शब्द का वाच्यार्थ (योद्धा) व्यंग्यार्थ (कष्ट सहिष्णु, अपने प्राणों का बलिदान करने वाले, साहसी आदि) में संक्रमित हो गया है। 2. अत्यन्तिरस्कृत वाच्य ध्वनि-जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्योतकनार्थ तिरस्कृत हो जाता है यथा-

"नीलोत्पल के बीच समाए मोती से आँसू की बूँद।

हृदय सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके।"

यहाँ 'नीलोत्पल' शब्द का वाच्यार्थ है कमल और व्यंग्यार्थ है नेत्र। वाच्यार्थ नितान्त अभीष्ट है, पर व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ तिरस्कृत हो गया। 3. वस्तु ध्वनि-यहाँ व्यंग्यार्थ किसी वस्तु के रूप में प्रतीत होता है-

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी, वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन;

वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी, दलित भारत की ही विधवा।

यहाँ भारत की विधवा को 'पूजा', 'दीपशिखा', 'क्रूर' काल ताण्डव की स्मृति रेखा 'छूटी लता' आदि वस्तु है, जो व्यंग्य है। अर्थात् भारत की विधवा की असहाय अवस्था को द्योतित करती है।

4. अलंकार ध्वनि-यहाँ व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है। यथा- दियो अधर नीचे चखौ मानौ जाइ।यहाँ नायिका के मुख पर चन्द्रमा का आरोप व्यंग्य रूप में किया गया है अतः यहाँ रूपक अलंकार व्यंग्य है।

5. रस ध्वनि-जहाँ व्यंग्यार्थ विभाग, अनुभव और संचारी भाव के संयोग पर आधारित होता है। वहाँ रस ध्वनि मानी जाती है। काव्य शास्त्र में रस से अभिप्राय है- रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति।

(i) रस-विभाग आदि संयोग से स्थायी भाव की अभिव्यक्ति रस कहलाती है। यथा- एक पल मेरे प्रिय के दृग पलकें थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे। चपलता इस सिकम्पित पुलक से दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था। यहाँ आलम्बन है नायक और नायिका। उद्दीपन विभाग है नायिका के दृग पलकों का ऊपर उठना और नीचे गिरना। अनुभव है नायिका विकम्पित पुलक। संचारी भाव है- लज्जा, चपलता आदि। उक्त सामग्री के कारण यहाँ रस ध्वनि है। संक्षेप में इसे रस कहते हैं। यह श्रृंगार रस का उदाहरण है। (ii) भाव-भाव वहाँ माना जाता है जहाँ

(1) निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि संचारी भाव प्रधानता से प्रतीयमान है।

(2) देवता राजा, राष्ट्र गुरु आदि के प्रति रति प्रधानता से प्रतीयमान हों।

(3) विभाग आदि के सम्यक निर्वहण के अभाव में रति, ह्रास, उत्साह आदि स्थायी भाव उद्बुद्ध मात्र रह गये हों।

उद्बुद्ध मात्र उत्साह स्थायी भाव का यहाँ उदाहरण लिया जा सकता है। यथा-

सहे वार पर वार अन्त तक

लड़ी वीर बाला सी,

आहुती सी गिर चली चिता पर

चमक उठी ज्वाला सी।

(iii, iv) रसाभाव और भावाभास-जहाँ रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारण वहाँ अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ क्रमशः रसाभाव अथवा भावाभास माना जाता है।

(v, vi, vii) भावोदय, भावशान्ति और भावशबलता-यहाँ एक भाव उदय हो वहाँ भावोदय माना जाता है, यहाँ दो भावों का वर्णन हो वहाँ भावशान्ति मानी जाती है। यहाँ दो भावों से अधिक का वर्णन हो वहाँ भावशबलता मानी जाती है।

(viii) भाव शान्ति-यहाँ एक भाव उदित होकर शान्त हो जाये वह भावशान्ति होती है। यहाँ ज्ञातव्य है कि रसादि ध्वनि पर ही आश्रित है, वाच्यार्थ पर नहीं।

ध्वनि का आत्मत्व

आनन्दवर्धन ने

'ध्वन्यालोक' स्पष्ट शब्दों में कहा है-

'काव्यस्यात्मा ध्वनि।'

आनन्दवर्धन का ध्वनि तत्व का नितान्त आन्तरिक तथा साथ ही साथ व्यापक तत्व है। वह वाच्यार्थ से उसी प्रकार भिन्न होता है जिस प्रकार अंगना के अंग से फूटता हुआ लावण्य अथवा किसी लज्जाशील रमणी के मुख से झलकती हुई रस की आभा।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के काव्य के विविध चमत्कारों को ध्वनि पर आधारित माना है। ध्वनि के तारतम्य आधार पर वर्णित काव्य के उपरोक्त रूपों के व्यापक परिवेश के काव्य के समस्त स्थल समाविष्ट हो जाते हैं।ध्वनि काव्य-ध्वनि काव्य के प्रमुख पाँच भेद हैं और गुणीभूत व्यंग्य के प्रमुख आ भेद हैं। फिर उनके अनेक उपभेद हैं, जो पद्यांश, पद वाक्य से लेकर प्रबन्धगतता तक फैले हुए हैं। ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमर्यग्य' 'है, जो रस, भाव, रसाभाव आदि आठ काव्य-तत्वं का पर्याय है। गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद 'अपराग' है, जिसका अभिप्राय है रसवद् आरि अलंकारों का चमत्कार है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के शब्दों में, प्रतिभा सम्पन्न कवियों के लिए ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के सम्पर्क से अभिनव काव्य की समृद्धि का कहीं अन्त नहीं होता।

चित्र काव्य के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुणों और उससे सम्बद्ध रीतियों के अतिरिक्त सभ अलंकारों का चमत्कार भी सन्निहित है। इसका तात्पर्य यह है कि गुण और अलंकार आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंग्य रहित नही होते, उनमें भी व्यंग्न की महत्ता रहती है, किन्तु अस्पा रूप में।

स्पष्ट ध्वनि को काव्य-आत्मा मानने के दो कारण सामने आते हैं-

(1) यह तत्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि रस के उदाहरणं में भी इसी तत्व का अस्तित्व अनिवार्यतः अपेक्षित है और इसके विपरीत प्रत्येक काव्य स्थल में ध्वनि की सत्ता अनिवार्यतः होने पर भी सदा आवश्यक नहीं कि वहाँ शास्त्रीय दृष्टि से रस की स्वीकृति की जाये।

(2) ध्वनि-तत्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। रस को ध्वनि-काव्य का एक भेद मात्र है। यद्यपि यह भेद अन्य भेदों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। स्पष्ट है कि काव्य का अनिवार्य तत्व ध्वनि है रस नहीं क्योंकि, रस के उदाहरण में ध्वनि की सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार्य होगी। पर यह सदा आवश्यक नहीं है कि ध्वनि के उदाहरण में रस की सत्ता अनिवार्य हो। काव्य का अनिवार्य तत्व वहीं स्वीकार किया जा सकता है ज काव्य में सर्वत्र विद्यमान रहे। आनन्दवर्धन रस की इस न्यूनता से परिचित थे और इसी कारण उन्होंने ध्वनि तत्व की स्थापना की।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण यही था कि उन्होंने अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का समावेश ध्वनि में कर दिया। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार जाता था वरन् उसके वक्राक्त औचित्य भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे।

हो ध्वनि सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने उस अभाव की भी पूर्ति को जो रस-सिद्धान्त से बनी हुई थी।

रस सिद्धान्त भी एन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमें दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दो के विषय में अभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संगठन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव नहीं मिल पाता था। ध्वनि सिद्धान्त ने इस अभाव की पूर्ति की।

ऊपर के विवेचन के आलोक में हम कह सकते हैं कि रस का महत्व प्रतिष्ठित होने पर भी आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्ता आदि कतिपय आचार्यों ने काव्य की आत्मा रस न मानकर ध्वनि को ही माना है, जो रस-ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि के रूप में तीन प्रकार की होती है। इनं आचार्यों के अनुसार काव्य में वाच्यार्थ ता तात्पर्यार्थ से भिन्न ध्वन्यार्थ का ही प्राधान्य होता है. अतः वही काव्य की आत्मा है। आत्मा रूप ध्वन्यार्थ का प्रकाश व्यंजन व्यापार होने के कारण ही व्यंजना की अभिधा, लक्षणा आदि से अधिक महत्व दिया गया है।

ध्वनिवादियों ने रस-ध्वनि को ध्वनि का सर्वप्रमुख उदाहरण माना है और इस प्रकाररस के अमरत्व को ही ग्रहण किया है। वस्तुत रस की महत्ता की अवहेलना उनमें नहीं थी। ध्वनि को आत्मा मानकर भी ध्वनिवादियों के अनुरूप वास्तुना करने की शक्ति को काव्य की आत्मा मानना संगत नहीं है, क्योंकि ये ध्वनियाँ रस के बिना निर्जीव सी ही है और मात्र रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार की जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या ध्वनि काव्य की आत्मा है? वस्तुतः रस या ध्वनि में को प्रार्थक्य नहीं है दोनों ही प्रतीकमान अर्थ के द्योतक हैं। वास्तव में जब तक उक्त ध्वनित नहीं होती है उसमें चमत्कार नहीं आता है और ध्वनित होने के साथ-साथ उसमें रसमयता भी आवश्यक होती है। दोनों ही काव्य के लिए आवश्यक है। क्योंकि रस अपने आप में ध्वन्यात्मक है अतः रस अथवा रस-ध्वनि ही कार्य की आत्मा है। होती

लक्षणा से क्या तात्पर्य है? इसके समस्त भेदों का सोदाहरण वर्णन कीजिए। शब्दों के अर्थों का बोध वराने वाले अर्थ व्यापारी को शब्द शक्ति कहते हैं। शब्द मुख्यतः तीन प्रकार के होते है- वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन शब्दों के अनुसार ही उसके तीन अर्थ होते हैं। वाच्यार्थ,

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। इन अर्थों का बोध कराने वाले अर्थ व्यापारों को शब्द-शक्ति कहते हैं। इन अर्थों का बोध शब्द शक्तियों द्वारा होता है, अतः शब्द शक्तियो के तीन भेद हुए-(1) वाच्यार्थ वाचक शब्द-शक्ति अभिधा, (2) लक्ष्यार्थ वाचक शब्द-शक्ति लक्षणा और (3) व्यंग्यार्थ वाचक शब्द-शक्ति व्यंजना।

अभिधा शब्द शक्ति

जिस शक्ति से मुख्य अर्थ का प्रत्यक्ष बोध होता है उसे अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं। अभिधा शब्द शक्ति द्वारा अर्थ की बोध्यता कुछ आधारो पर होती है। ये आधार लोक प्रसिद्धि पर आधृत होते हैं। इसमें अर्थ को समझने में सहायता प्राप्त होती है। ये आधार इस प्रकार हैं-

1. व्याकरण-इसमें प्रतिपादित प्रकृति-अप्रत्यय द्वारा अर्थ का सहज ही बोध होता है, शब्दों के रूपों के बदलने का ढंग ज्ञात होने से उनका अर्थ भी सहज हो जाता है।

2. उपमान-समानतार्थ उपनाम भी अर्थ को समझने में सहायता देता है। सादृश्य से दूसरी वस्तु भी ग्राह्य हो जाती है, जैसे- यह ज्ञात है कि आग गरम और प्रकाशवान होती है, अतः यह कहा जा सकता है कि भोजन आग हो रहा है, तो स्पष्ट हो जाता है कि भोजन बहुत गरम है।

3. कोश-कोश में प्रत्येक शब्द के अर्थ तथा पर्यायवाची शब्द दिये होते हैं। कोश का ज्ञान भी अभिद्यार्थ समझने में सहायता देता है। किसी भी शब्द का अर्थ कोश से ही ज्ञात होता है।

4. आप्त वाक्य - आप्त वाक्य प्रमाणिक अर्थात् लोक प्रसिद्ध वाक्य। कुछ शब्द लोक प्रसिद्ध हो जाते हैं- नमस्कार शब्द अभिवादन और विनय का सूचक है। नमस्कार शब्द सुनते ही मन में इस प्रकार के भावों का जागृत होना आप्त वाक्य ही है।लक्षणा शब्द-शक्ति

जब शब्दों का वाचक रूप में प्रयोग न करके उससे सम्बन्धित किसी अर्थ का प्रयोग किया जाये वहाँ लक्षणा होती है। अतः मुख्यार्थ का बोध होने पर उससे सम्बन्धित किसी अन्यार्थ का बोध कराने वाले अर्थ व्यापार को लक्षणा शब्द शक्ति कहते हैं।

इस प्रकार लक्षणा में चार बातें मुख्य होती हैं-

(1) शब्दों के मुख्य अर्थ की बाधा, क्योंकि वह असंगत लगता है।

(2) मुख्यार्थ से भिन्न किसी अन्य सम्बन्धित अर्थ की प्रतीति।

(3) उस भिन्न अर्थ की मुख्यार्थ से सम्बद्धता।

(4) इस लक्ष्यार्थ अथवा भिन्नार्थ की प्रतीति के मूल में रूढ़ि अथवा प्रयोजन अर्थात यह दूसरां अर्थ रूढ़ि या प्रयोजन से निकलता है।

वाच्यार्थ की तरह लक्ष्यार्थ तुरन्त प्रतीत नहीं होता। मुख्यार्थ से बाधा होने पर भी दूसर अर्थ निकलता है। जैसे कहा जाये नरेश 'भीम' है, इससे 'भीम' का अर्थ पाण्डव लेना असंगतत है। यहाँ तो भीम का अर्थ शक्ति से है-अर्था नरेश भी बहुत शक्तिमान है। यह लक्ष्यार्थ को प्रतीति से प्रयोजन सहायक हुआ है। लाक्षणिक प्रयोग से मात्रा में प्रभाव तथा चमत्कार उत्पन होता है। इसलिए कवि इसका बहुलता से प्रयोग करते हैं और मुहावरों में भी प्रायः इसी का प्रयोग होता है।

लक्षणा शब्द शक्ति के भेद

रूढ़ि और योजना की दृष्टि से लक्षणा शब्द-शक्ति के दो भेद होते हैं- (1) रूढ़ि लक्षण और (2) प्रयोजनवती लक्षणा।

1. रूढ़ि लक्षणा-जहाँ लक्षणा शब्दों का प्रयोग परम्परा अथवा रूढ़ि के आधार पा होता और मुख्यार्थ को जोड़कर उसी को ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है। 2. प्रयोजनवती लक्षणा-जहाँ लक्षणा का प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य अथवा प्रयोजन से किया जाये, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। जैसे कहा जाये-

उदित उदय गिरिमंच पर रघुवर बाल पतंग।

विकसे संत सरोज सब, सरषे लोचन भृंग ॥

तुलसीदास यहाँ राम को सूर्य के समान बताते हैं। पतंग से यह तुल्यार्थ नीचे की पंक्ति के प्रयोजनवर्ती लक्षणा को सिद्ध करता है, क्योंकि जैसे सूर्य के निकलते ही उल्लू छिप जाते हैं और कमल के खिलने से भ्रमर प्रसन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार राम के आने से कपटी व धूर्त राजा भागने लगे

और ऋषि मुनियों को आनन्द मिला। अतः राम की शोभा प्रातःकालीन सूर्य के समान है। यहाँ कहने में सूर्य का प्रयोग राम की शोभा के वर्णन में किया है, इसी आधार पर सूर्य का प्रभाव अर्थ प्रयोजनवती लक्षणा से ही सिद्ध हुआ।

रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा के अनेक भेदोपभेद हैं। साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने रूढ़ि लक्षणा के आठ प्रयोजनवती लक्षणा के अस्सी भेद माने हैं। पर मुख्य रूप से वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध पर इन दोनों के गौणी और शुद्धा के दो-दो भेद माने गए हैं।

1. गौणी रूढ़ि लक्षणा-यहाँ समान गुण अथवा धर्म के लक्ष्यार्थ का बोध हो वहां गौणी लक्षणा होती है और यह अर्थ रूढ़ि निकलता है तो गौणी रूढ़िलक्षणा कही जाएगी। • उदाहरणार्थ-जैसे कहा जाए कि 'सुरेश तो हवा हो गया।' चूँकि हवा का गुण तेज चलन है, अतः सुरेश तुरन्त गायब हो गया यह अर्थ ध्वनित होता है।

2. शुद्धा रूढ़ि लक्षणा-जहाँ गुण अथवा धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य कारण के लक्ष्यार्थ का रूनि अर्थ प्रतीत हो, वहाँ शुद्ध रूढ़ि लक्षणा होती है। जैसी अन्य कारण के सवारी और' तो यहाँ सवार और सवारी में आश्रय आश्रयी सम्बन्ध होने के लक्षणा है।

3. प्रयोजनवती गौणी लक्षणा-जहाँ गुण अथवा धर्म से किसी प्रयोजन से लक्ष्यार्थ का बोध हो। वहाँ प्रयोजनवती गौणी लक्षणा होती है। जैसे कहा जाए किमान से लक्ष्यार्थ यहाँ गऊ से सीधेपन, सरलता आदि गुणों से प्रयोजन से ही गोपेन्द्र को सौधा बताया गया है। पर यदि यहाँ गऊ से अर्थ मूर्खता से लिया ये तो वह रूढ़ि गौणी-लक्षणा होग क्या करूया है। आदि प्रदेशों में सीधापन मूर्खता का भी द्योतक होने से गऊ का मूर्खता के अर्थ में प्रयोग एक रूढ़ि बन गई है।

प्रयोजनवती गौणी लक्षणा के भी तीन मतभेद किये जा सकते हैं- (i) प्रयोजनवती निरारोपा गौणी लक्षणा-जहाँ उपमेय-उपमान रूप आरोप न हो। (ii) प्रयोजनवती सरोपा गौणी लक्षणा-जहाँ उपमेय-उपमान का आरोप हो। (iii) प्रयोजनवती साध्यवासना गौणी लक्षणा जहाँ साध्य का लोप हो जाये और अतिशियोक्ति हो ।

इन तीनों के उदाहरणों के लिए यदि कहा जाये कि 'चेतना ने अंगड़ाई ली' तो इसमें चेतना का अर्थ जागना है और व्यक्ति जागते ही अंगड़ाई लेता है अतः जहाँ उपमेर-उपमान का सम्बन्ध न होने से निरारोपा है, पर यदि कहा जाये कि 'वह गऊ है', तो यहाँ 'गऊ' के गुण प्रयोजनीय एवं आरोपित हैं, अतः सारोप है और यदि कहा जाए कि 'आओ नारदा' तो यहाँ उपमेय व्यक्ति का लोप है और उपमान नारद से ही काम चलाया गया है अतः यहां पर साध्यवासना है।

4. प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा- यहाँ वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में समानता के अतिरिक्त ता है, वहाँ प्रयोजनवती शुद्ध लक्षणा होती है। इसके भी अनेक उपभेद कोई अन्य सम्बन्ध होता है, हैं जिनमें तीन मुख्य हैं-

(i) निरोपा प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा।

(ii) सारोपा प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा ।

(iii) साध्यवासना प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा।

इसके अतिरिक्त लक्षणा के कुछ अन्य भेद भी मिलते हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है- (i) उपादान लक्षणा-जहाँ वाच्यार्थ को निकालने के लिये किसी अन्य अर्थ का आश्रय लिया जाये, पर पहले अर्थ को भी न छोड़ा जाये, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। इसे अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं। उदाहरणार्थ कहा जाये कि 'छाया तो छाया ही है।' इसमें छाया की विशेषताएँ छाया से ही बताई गई हैं। दूसरी छाया लाक्षणिक है। छाया अत्यन्त शीतल, आरामदेह और सुखकर होती है। यहाँ लक्ष्यार्थ अपने मूल अर्थ को भी ग्रहण किये हुए हैं, अत. यहाँ उपादान लक्षणा आदि अजहत्स्वार्था लक्षणा है।

(ii) लक्षण लक्षणा-जहाँ अर्थ की सिद्धि के लिये वाच्यार्थ को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ ही लिया जाता है और मुख्यार्थ का त्याग कर दिया जाता है, वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। इसे अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं। जैसे कहा जाये कि 'उसका गंगा में घर है'। यहाँ गंगा के प्रवाह के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर यही कहा जायेगा कि गंगा के बिल्कुल किनारे पर ही उसका घर है।

(iii) विपरीत लक्षणा-जहाँ वाच्यार्थ की ठीक विपरीत अर्थ ध्वनित हो, वहाँ विपरीत लक्षणा होती है। जैसे कहा जाये कि 'वह कागजी पहलवान है'। यहाँ कागज पतला होता है

औचित्य का अस्तित्व रस की सत्ता का प्रमाण है। इन्होंने काव्यौचित्य, रसौचित्य, भावौचित्य आदि के भंग के कारण काव्याभास, रसाभास, भावाभास आदि की उत्पत्ति स्वीकार की।

9. कुन्तक-कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त का समर्थन करते हुए औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है। इन्होंने औचित्य के दो प्रकार माने और वृत्यौचित्य, अलंकारौचित्य, रीत्यौचित्य आदि का कथन रस वर्णवक्रता के अन्तर्गत किया।

10. महिम भट्ट-ये रसवादी आचार्य थे। इन्होंने रसात्मक काव्य में अनौचित्य के स्पर्श भाग की संभावना का निषेध करते हुए औचित्य का समर्थन किया है।

"उन्होंने काव्य से औचित्यक का अभिन्न सम्बन्ध मानते हुए रस-प्रतीति को औचित्य का ही फल माना है। इन्होंने दोषों का वर्णन औचित्य एवं अनौचित्य की दृष्टि से किया है। जब रस-प्रतीति में विघ्न उपस्थित हो जाये तो अनौचित्य दोष होगा। महिम भट्ट काव्य के अवच्छेदक तत्व (नित्यधर्म) के रूप में औचित्य की स्थिति स्वीकार कर उसका महत्व प्रतिपादन करते हैं। (डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा')

औचित्य और अन्य सम्प्रदाय

1. औचित्य और रस सम्प्रदाय-औचित्य को रस का पोषक स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र ने तो औचित्य को रस का प्राण स्वीकार करते हुए कहा कि औचित्य से युक्त होने पर श्रृंगारादि रस जन-मन को अंकुरित करते हैं। उनके अनुसार, "जिस प्रकार बसंत अशोक की अंकुरित कर सहृदयों को आल्हादित करता है, उसी प्रकार रस-औचित्य के संयोग से औचित्य रुचिर होता है। रसानुभूति औचित्य के अभाव में संभव नहीं है। संक्षेप में रस और औचित्य सम्बन्धित है।" 2. औचित्य और अलंकार-औचित्य सम्प्रदाय अलंकारौचित्य के माध्यम से 'उचित स्थान पर अलंकारों की योजना का समर्थक है। उनके अनुरूप रसानुरूप अलंकार विन्यास ही अलंकारौचित्य है-

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणीश्चरुचर्वणे ।'

यह सम्प्रदाय रस को काव्यात्मा स्वीकार करते हुए अलंकारों को उसका पोषक मानता है।

3. औचित्य और वक्रोक्ति-कुन्तक भी इसके समर्थक हैं, क्योंकि इन्होंने वक्रता के विविध रूपों का वर्णन करते समय औचित्य का महत्व स्वीकार किया है। इनके द्वारा वर्णित वक्रोक्ति के भेदों में औचित्य का महत्व दिखाई पड़ता है।

4. औचित्य और ध्वनि-आनन्दवर्धन भी औचित्य का महत्व स्वीकार करते हुए अनौचित्य को रस-भंग का कारण बताते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि काव्य में अलंकार, रस, गुण, वृत्ति आदि की योजना औचित्य के आधार पर ही होनी चाहिए। यदि इनके प्रयोग में अनौचित्य होगा तो विरसता उत्पन्न हो जाएगी।

निष्कर्ष-रस और औचित्य में से यद्यपि काव्यात्मा रस ही है, पर काव्य के सिद्धान्तों में से औचित्य का भी विशेष महत्व है, क्योकि इसके अभाव में रस भी नीरस हो सकता है। जहाँ तक इसके सहायक सिद्धान्त होने का प्रश्न है, वहाँ तो यह तथ्य सर्वमान्य है कि रस को यदि काव्य की आत्मा माना जाय तो शेष सभी अंग-गुण, रीति, अलंकार, उसके उत्कर्ष में ही सहायक हैं, वे रसानुभूति के कारण नहीं है। यही स्थिति औचित्य की भी है।

3.6 सारांश

ध्वनि सिद्धांत एक सार्वजनीन सिद्धांत है और काव्य के मूल तत्व को अधिक सफलतापूर्वक आत्मसात किए है। इसमें कविता का लक्ष्य अर्थ बोध मात्र नहीं है, किंतु परिशीलक में संवेदना जगाना और उनके हृदय का विस्तार कर उसे विश्व हृदय में मिला देना भी है। ध्वनि सिद्धांत की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसने अपने अंतर्गत रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि समस्त काव्य सिद्धांतों के मूल तत्वों का समावेश कर लिया, इसके साथ ही इसका प्रतिपादन भी विस्तार के साथ हुआ है। खंडन मंडन द्वारा यह अति पुष्ट होकर एक सर्वमान्य काव्य सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इसके असंख्य भेद-प्रभेद हैं और यह काव्य की व्यापक से व्यापक और सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं की अपने में समेट लेता है।

3.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

प्रश्न 1 ध्वनि की अवधारणा एवं स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2 लक्षणा मूलक ध्वनि की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 3गुणीभूत व्यंग्य की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 4 ध्वनि के अर्थ एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5. ध्वनि-सिद्धान्त की सम्यक् विवेचना कीजिए।

प्रश्न 6 ध्वनि सिद्धान्त की मूल स्थापनाओं का परिचय देते हुए, आधुनिक समीक्षा में उसकी प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 7 ध्वनि सिद्धान्त का परिचय देते हुए उसकी प्रमुख स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 8 ध्वनि किसे कहते हैं? ध्वनि सिद्धान्त का परीक्षण करते हुए काव्य में रस ध्वनि के महत्व को स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न 9 ध्वनि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए रसादिध्वनि का विवेचन कीजिये।

प्रश्न 10 ध्वनि-सिद्धान्त की प्रमुख अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 11 भारतीय काव्य-शास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का महत्व बताइए।

प्रश्न 12 ध्वनि सम्प्रदाय में काव्य की आत्मा क्या है? पूर्वोत्तर पक्ष सहित सिद्धान्त निरूपण कीजिए।

प्रश्न 13 ध्वनि सिद्धान्त की समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय देते हुए ध्वनि के प्रमुख भेद बताइये।

प्रश्न 14 ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 15 ध्वनि सिद्धान्त का भारतीय काव्य शास्त्र को प्रदेय विषय पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखिए।

प्रश्न 16 "ध्वनि एकपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि इसमें रस तथा अलंकार का तो समावेश है ही साथ ही इसके अंतर्गत अन्य काव्य-सिद्धान्तों के तत्व भी समाहित हैं।" उपर्युक्त कथन पर युक्तियुक्त विचार व्यक्त कीजिए।

3.8 पठनीय पुस्तकें

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास भगीरथ मिश्र

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा डॉ. नगेन्द्र

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका योगेन्द्र प्रताप

भारतीय काव्यशास्त्र- निशा अग्रवाल

भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज रामनाथ त्रिपाठी

काव्यदर्पण- पं. रामदहिन मिश्र

इकाई -4

हिन्दी कवि: आचार्यों का काव्य शास्त्रीय चिन्तन : लक्षण-काव्य परपरा एवं कवि-शिक्षा

रूप रेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 शब्द संपदा
4.4 आचार्य शुक्ल के काव्य के स्वरूप सम्बन्धी विचार
4.5 डॉ. नगेन्द्र के समीक्षा-सिद्धान्तों का परिचय
4.6 डॉ. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
4.7 सारांश
4.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न
4.9 उपयोगी पुस्तकें

4.1 प्रस्तावना

काव्य रचनात्मक प्रतिभा का ऐसा सहज प्रवाह है जिसमें जीवन और जगत की रागात्मक अनुभूति समाहित होती है। काव्य का कल्पना रंजित स्वरूप नया बना रहता है। उसका स्वरूप 'नूतने वै पुराणे' अर्थात अपने प्राचीन रूप में भी वह नित्य नवीन है। काव्य में भाव जगत और वस्तु जगत का समन्वय रहता है। काव्य मनुष्य के भावों-मनोविकारों को परिष्कृत कर उदात्त भूमि प्रदान करता है। काव्य का उद्देश्य अत्यंत व्यापक और गंभीर है. केवल मनोरजन उसका प्रयोजन नहीं है। महाकाव्य में तो सर्वाहित की भावना प्रधान होती है अर्थात् जड़ चेतन दोनों के लिए मांगल्य-भावना असमान्य विद्यमान रहती है। काव्य कवि का कर्म माना गया है (कवेः कर्म काव्यम्) और कवित अलोक सामान्य प्रतिभा संपन्न होता है अर्थात् अपनी प्रतिभा की कल्पना से वह जहाँ तक पहुँचता है, सामान्य व्यक्ति के लिए वहाँ तक पहुँचना संभव नहीं है। इसीलिए कवि को 'मनीषी, परिभू और स्वयम् कहकर उसे विलक्षण माना गया है।

किसी पदार्थ, भाव या अनुशासन के अध्ययन के लिए आवश्यक है कि उसके लक्षण ठीक से समझ लिए जाएँ। विशेषतया, प्रवृत्ति या तत्वों के आधार पर लक्षणों को स्पष्ट किया जा सकता है। काव्य भावमूलक अभिव्यक्ति है, अंतः उसके स्वरूप का निर्धारण करना अत्यंत कठिन है। प्राचीन काल से अब तक काव्य के अनेक और अनेक विद्य लक्षण निरूपित किए जा रहे हैं किंतु किसी सर्वमान्य परिभाषा या लक्षण का विनिश्चय नहीं हो सका। देश-काल के प्रभाव से काव्य के स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होने के कारण वस्तुनिष्ठ रूप से उसके लक्षणों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों द्वारा काव्य लक्षणों का जो निरूपण हुआ है, उसके अनुशीलन से. कताय के स्वरूप को समझा जा सकता है।

4.2 उद्देश्य

काव्य-लक्षण के अभिप्राय को समझ सकेंगे:
सस्कृत के प्रमुख आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य के स्वरूप को जान सकेंगे,
हिंदी के प्रमुख समीक्षकों और कवियों की काव्य-लक्षण संबंधी अवधारणाओं से परिचित हो सकेंगे, पश्चात्य समीक्षकों एवं कवियों की काव्य-स्वरूप के संबंध में मान्यताओं को जान सकेंगे।

4.3 शब्द संपदा

वाङ्मय : वाडमय मूलतः वाणी से जुड़ा है अर्थात् जो कुछ भी बोला जाय वह वांड्मय है किन्तु व्यापक अर्थ में ज्ञानात्मक एवं रचनात्मक सभी प्रकार की रचना वांड्मय कहलाती है।

अव्याप्ति: जहाँ मूल आशय से कम बात कही जाती है. वहाँ अव्याप्ति दोष होता है। तर्कशास्त्र में इसे एक तर्कदोष माना जाता है।

काव्य-लक्षण: कविता के प्रमुख तत्वों को अभिव्यक्त करने वाले कारक एवं उनके मानक तत्व एवं उनके निर्धारक प्रतिमान काव्य-लक्षण माने जाते हैं। काव्य-लक्षण कविता के बहिरंग तत्व है।

अतिव्याप्ति: जहाँ मूल आशय से अधिक बात कह दी जाय, वहीं अतिव्याप्ति दोष होता है यह तर्कशास्त्र की शब्दावली है।

जीवित : सस्कृत आचार्यों ने जीवित को प्राणतत्व अर्थात् आत्मा स्वरूप माना। कुन्तके वक्रोक्ति को काव्य का जीवित तत्व मानते हैं।

4.4 आचार्य शुक्ल के काव्य के स्वरूप सम्बन्धी विचार

हिन्दी आलोचना के भव्य भवन का शिलान्यास यद्यपि आचार्य शुक्ल से पूर्व ही हो चुका था, तथापि इस भवन को सुदृढ़ और गगनचुम्बी बनाने का कार्य शुक्लजी ने ही किया। उन्हें हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में युग-प्रवर्त्तक होने का गौरव प्राप्त है। उनसे पूर्व हिन्दी आलोचना एक छोटे से पौधे के रूप में थी, जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वता और चिन्तन के जल, वायु और प्रकाश द्वारा विशाल वृक्ष के रूप में परिणित किया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है. "शुक्लजी ने हिन्दी समीक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। वे नए युग के विधायक थे।" डॉ. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल का मत है, आचार्य शुक्ल को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक औरप्रौढ आलोचक होने का गौरव प्राप्त है। वे तात्विक व ऐतिहासिक, दोनों प्रकार के महत्व में सम्पन्न हिन्दी के एक ऐसे दिग्गज आचार्य है, जिन्होंने शास्त्राभ्यास और भारतीय व पाश्चात्य समाल विन्दविकार सारणियों को सुप्रतिष्ठित जीवन मूल्यों के आलोक में गुम्फित किया है औ समीक्षा को ऊँचा अर्थ व आशय प्रदान किया है।

आचार्य शुक्ल के आलोचक स्वरूप को समझने के लिए हमें उनके निम्नलिखित ग्रन्या का अध्ययन अभीष्ट है।

(1) हिन्दी साहित्य का इतिहास, (2) चिन्तामणि भाग 1 तथा 2, (3) रस मीमांसा (4) गोस्वामी तुलसीदास, (5) भ्रमरगीतसार की भूमिका, (6) जायसी ग्रंथावली की भूमिका

(7) बुद्धचारित की भूमिका ।

आचार्य शुक्लजी की सैद्धान्तिक आलोचना-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनायें प्रस्तुत की। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप चिन्तामणि भाग 2 के काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद, शीर्षक लेखों में मिलता है। उनके रस मीमांसा नामक ग्रंथ में भी इसका स्वरूप दिखाई देता है। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप चिन्तामणि भाग 2 के काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद शीर्षक लेखों में मिलता है। उनके रस मीमांसा नामक ग्रंथ में भी इसका स्वरूप दिखाई देता है। उनकी सैद्धांतिक आलोचना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) शुक्लजी ने आलोचना का मानदण्ड भारतीय रसवाद माना है। उनकी मान्यता में तीन प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं-

(क) नैतिकता, संयम, आदर्श पर विशेष बल। शिवत्व से अनुप्राणित होना।

(ख) प्राचीन आचायर्यों का अनुकरण मान्न न होकर मौलिकता से युक्त होना। (

ग) आलोचना का पूर्ण उपयुक्त मानदण्ड स्वीकार करना।

(2) शुक्लजी ने भाव, विभाव अनुभाव और संचारी भाव के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। भाव को वे प्रत्यक्ष बोध, अनुभूति और वेगंयुक्त प्रवृत्ति का संश्लिष्ट रूप मानते हैं। विभाग को वे काव्य में मुख्य ठहराते हैं और विभाव पक्ष के व्यापक चित्रण के लिए कल्पना का संबल ग्रहण करना उचित समझते हैं। अनुभाव के अन्तर्गत वे केवल आश्रय की चेष्टाएं लेते हैं. आलम्बन की चेष्टाओं को भाव के अन्तर्गत रखते हैं। जिन भावों को किसी पात्र में प्रकट होता देखकर दर्शक या श्रोता भी उसके जैसा अनुभव कर सकते हैं, शुक्लजी ने प्रधान भाव माना है और शेष को संचारी भाव कहा है।

(3) रस दशा का अभिप्राय शुक्लजी ने हृदय की मुक्तावस्था से लिया है। व्यक्ति का लोक-सामान्य भाव-भूमि पर जा पहुँचना ही हृदय की मुक्तावस्था है। आचार्य शुक्ल ने भरतमुनि तथा पण्डित विश्वनाथ का रस-निष्पत्ति सिद्धान्त अपनाया है, किन्तु संस्कृत आचार्यों की रस के स्वरूप और काव्य के उद्देश्य सम्बन्धी धारणा उन्हें मान्य नहीं। वे काव्य का चरम लक्ष्य आनन्द नहीं मानते। उनके अनुसार क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुण भाव की अनुभूति आनंदमय न होकर घात्मक होती है। शुक्लजी रस की अनुभूति को लौकिक मानते हैं और प्राचीन आचार्यों के रस को आलौकिक ब्रह्मानन्द सहोदर आदि करने को औपचारिक विशेषण मात्र मानते हैं।

(4) काव्य के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की धारणा है कि कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनव के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। जगत् के कुछ पदार्थों को देखकर भाव रसानुभूति होती है और कविता के पढ़ने से भी होती है। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब कविता का आलम्बन व्यक्ति का अधिक-से-अधिक परिचित होता है। ऐसी दशा पाठक की स्थिति तीन रूपों में व्यक्त होती है- (क) पाठक का हृदयमुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। (ख) वह पराये के भेदभाव से ऊपर उठकर काव्य के भाव में ही तन्मय हो जाता है। (ग) किसी अन्य वस्तु व्यापार की उसे अनुभूति नहीं रहती है।

(5) साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत है जब किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लिया जाता है कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोबोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण आलम्बन का ही होता है।

(6) क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का शुक्लजी ने तीव्र विरोध किया।

(7) प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में उनका विचार है कि प्राकृतिक दृश्य हमारे समक्ष आलम्बन रूप में भी उपस्थित होते हैं और उद्दीपन रूप में भी।

(8) जिन कवियों को लोक-हृदय की पहचान होती है और जो लोक-सामान्य आलम्बूतो का सफल विधान करते हैं, उन्हें शुक्लजी ने श्रेष्ठ कवि माना है। जो कवि केवल आतालावन चमत्कार अथवा कोरे उपदेश के लिए काव्य-रचना करते हैं, उन्हें वे निकृष्ट कोटि का सिद्ध करते हैं

(9) शुक्लजी ने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताएँ मानी हैं- (क) लाक्षणिकता, (ख) रूप-व्यापार सूचक शब्दों का प्रयोग, (ग) नाद, सौष्ठव तथा (घ) रूपगुण बोधक शब्दों का प्रयोग।

(10) अलंकारों को वे कविता का साधन ही मानते हैं, साध्य नहीं।

(11) छंद विधान को वे नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता में सहायता मानते हैं। छंदों की मात्राओं के घटाने-बढ़ाने से यदि नए संगीत की सृष्टि हो सके तो वे ऐसा करने की छूट देते हैं।

व्यावहारिक आलोचना-आचार्य शुक्ल ने न सैद्धांतिक मान्यताओं का निरूपण किया, उन्हें वे व्यवहार में भी लाये। इसलिए उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना एकदम घुली-मिली है। उनकी व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप जायसी ग्रंथावली की भूमिका, भ्रमरगीत सार की भूमिका तथा गोस्वामी तुलसीदास व हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्राप्त होता है। उनकी समस्त व्यावहारिक आलोचना को हम दो भागों में बाँट सकते हैं-

(क) कवियों पर लिखी गई समीक्षाएँ तथा

(ख) काव्य-धाराओं पर लिखी गई समीक्षाएँ।

आचार्य शुक्ल ने तुलसी, सूर, जायसी आदि कवियों पर जो समीक्षाएँ प्रस्तुत की, उनसे हिन्दी-आलोचना की भित्ति सुदृढ़ बनी। तुलसी की समीक्षा करते हुए शुक्लजी ने काव्य के अन्तर्बाह्य पक्षों की दृष्टि से उनके काव्य का विवेचन किया। तुलसी भी भक्ति-पद्धति लोकधर्म, लोकमंगल, लोकनीति, ज्ञान-भक्ति विवेचन आदि का भी निरूपण किया। इस प्रकार तुलसी की उन्होंने सर्वांगीण आलोचना प्रस्तुत की है। द्विवेदीयुगीन भौतिकता और आदर्श के गहन पक्षपाती होने के कारण शुक्लजी को तुलसी सबसे प्रिय कवि और तुलसी का रामचरित मानस सबसे प्रिय काव्य-ग्रंथ प्रतीत हुआ। मानस के लोक-धर्म के आदर्श की ओर से सम्पूर्ण हृदय से आकर्षित हुए। यह लोकधर्म सत् की रक्षा और असत् के दलन में निरत दिखाई देता है। शुक्लजी ने पूरी भावुकता और तन्मयता के साथ मानस की इस विशेषता को उजागर किया है। शुक्लजी ने लोकमंगल और आनंद का निरूपण करने वाले काव्यों को दो भागों ने बाँटा है, लोकमंगल की साधना व्यवस्था को लेकर चलने वाले काव्य तथा लोकमंगल की सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्य। प्रथम वर्ग में वे तुलसी का काव्य रखते हैं तथा द्वितीय में सूर के काव्य को स्थान देते हैं। इसमें गर्जन-तर्जन विप्लव तेज आदि नहीं है, अपितु एक मधुरिमा और कोमलता आदि से अन्त तक व्याप्त है। यद्यपि शुक्लजी एक उच्चकोटि के सहृदय समीक्षकऔर काव्य-मर्मज्ञ थे, किन्तु द्विवेदीयुगीन नैतिकता से प्रभावित होने के कारण उन्हें सूर की माधुर्यपूर उक्तियों में वह सौन्दर्य नहीं दिखा, जो तुलसी को लोकधर्म निरूपण में दिखाई दिया। फलस्वरूप वे सूर के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोर हो गए।

विस्तार की दृष्टि से शुक्लजी की तीनो भूमिकाओं में 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका सब बड़ी है। इसमें उन्होंने कवि का जीवन-परिचय या रचना के सामान्य गुणदोष निरुपित करके अपने आलोचक कर्म की इतिश्री नहीं समझ ली है. अपितु कवि की अन्तः प्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हुए कृति का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। यद्यपि आज जायसी का अध्ययन दर्शन और सिद्धान्त आदि अनेक दिशाओं में बहुत आगे बढ़ गया है

किन्तु पद्मावत के काव्य-सौन्दर्य के सम्बन्ध में हम शुक्लजी द्वारा स्थापित मान्यताओं में तनिक भी आगे नहीं बढ़ सके हैं। इससे उनके विवेचन की पूर्णता प्रकट हो जाती है।

आचार्य शुक्ल ने छायावाद, रहस्यवाद आदि काव्य धाराओं पर भी अपनी समीक्षा प्रस्तुत की है। अनेक आलोचकों का कथन है कि उन्होंने इन काव्यधाराओं का खण्डन किया है औ इसके प्रति यथोचित सहानुभूति नहीं दिखाई। परन्तु वास्तव में उन्होंने इन काव्यधाराओं की हर बात को बुरा नहीं कहा। जहाँ उन्हें अच्छाई दिखाई दी है, वहाँ सराहना भी की है। छायावाद की लाक्षणिकता की उन्होंने प्रशंसा की है। वस्तुतः शुक्लजी इन काव्यधाराओं की कतिपय प्रवृत्तियेो के प्रति असहिष्णु तो थे परन्तु हठधर्मिता और असहृदयता उनमें न थी। समय के साथ जब उन दोनों में परिमार्जन होता गया, शुक्लजी इन काव्यधाराओं के प्रति सहिष्णु बनते गए।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का मूल्यांकन-आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा का एक सम्यक् विवेचन करने के उपरांत हम कह सकते हैं कि वे अन्यतम कोटि के समीक्षक थे।

डॉ. रामलाल सिंह के शब्दों में "उन्होंने हिन्दी समीक्षा का स्वतन्त्र तथा नव्य दर्शन उपस्थित किया।" डॉ मनोहरलाल गौड़ का कथन है- "सबसे महत्व की बात यह है कि उन्होंने बहुत पढ़ा है, पढ़े को समझा है, समझे को पचाया है और पचाए हुए को ही लिखा है। शुक्ली की लेखनी से ऐसी कोई बात नहीं निकली, जिस पर उन्होंने गहराई से विचार नहीं किया है।"

आचार्य शुक्ल ने आलोचना के क्षेत्र में अनेक मौलिक उभावनाएँ की। उहोंने साहित्य के मानदण्ड का आधार मनोरंजन अथवा चमत्कार के स्थान पर जीवन को बनाया। इसी आधार पर उन्होंने तुलसी के साहित्य की महत्ता प्रतिपादित की, क्योंकि यह जीवन की व्यवस्था प्रस्तुत करता है और लोक-धर्म अपनी सम्पूर्णता के साथ उसमें अभिव्यक्त हुआ है।

शुक्लजी ने आलोचना के लिए शक्ति और सौन्दर्य का उच्च आदर्श खोज निकाला और इसी के आधार पर सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की समीक्षाएँ प्रस्तुत की। उन्होंने भारतीय रसवाद की गम्भीर एवं व्यापक समीक्षा प्रस्तुत कर उसे भारतीय समीक्षा शास्त्र का आदर्श बनाया। प्राचीन रसवादी धारणा को परिवर्तित और परिवर्द्धित कर उन्होंने उसे मौलिक रूप प्रदान किया। उन्होंने काव्य में रस-दशा के साथ-साथ शील दशा की भी अवधारणा की। यह उनकी मौलिक उद्भावना थी। उनके अनुसार इस दशा में पहुँचने पर हम काव्य की उस भूमि पर पहुँच जाते

हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में न दिखाई देकर जीवनं व्यापी रूप में दिखाई देते हैं। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के दार्शनिक आधार पर संपुष्ट बनाया। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षको की काव्य को कला मानने की धारणा का खण्डन किया और उसे सत्यानुशीलन की साधना बताया। उनका कहना था कि कविता जीवन और जगत् के मार्मिक पक्ष को मनुष्य के सामने इस प्रकार लाती है कि मनुष्य स्वार्थ के संकुचित घेरे से बाहर निकल भूमि के साथ एकाकार

। हो जाता है।आचार्य शुक्ल की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूर्ण द्र थे। साहित्य सम्बन्धी जो सिद्धान्त और आदर्श उन्होंने एक बार निश्चित कर लिये उनका उन्होंने कठोरता से पालन किया। चूंकि ये मान्यताएँ उन्होंने गहरा अध्ययन और सूक्ष्म चितन निर्धारित की थी, अतः वे स्वयं उनके अपनी शक्ति और क्षमता के बल पर उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक इगोल बने रहे। आलोचनाएँ प्रस्तुत की। अन्य आलोचक प्रायः या तो सिद्धान्त निर्धारित करते हैं या फिर व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखते हैं। शुक्लजी ने अपनी असाधारण सामथ्यं के बल पर दोनों हो क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।

आचार्य शुक्ल की आलोचना शैली में कहीं भी रूक्षता नहीं है। कारण यह है कि उनमें हृदय और बुद्धि का पूर्ण समन्वय था। किसी विषय की आलोचना करते समय भी उन्होंने बुद्धि का उपयोग तो किया है, परन्तु हृदय को घरावर साथ रखा है। विषय का स्पष्ट विवेचन उनको एक अन्य विशेषता है। किसी कवि के जीवन-परिचय का अभाव होने पर उन्होंने उसकी कृतियों द्वारा ही उसके स्वभाव और प्रकृति आदि की झलक प्राप्त की। व्यावहारिक आलोचना के लिए उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और अपनी संवेद्य काव्यं भावना के बल उनकी समीक्षा प्रस्तुत की परन्तु इसके साथ-साथ हमे स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने साहित्य का इतिहास भी लिखा है और यहाँ उनको सभी कवियों से जुड़ना पड़ा है। पर यहाँ भी उन्होंने अपने समीक्षा विषयक सिद्धान्तों का सफल प्रयोग किया। कहीं उनकी व्यक्तिगत रुचियाँ भी प्रकट हो गयी हैं, यथा उन्होंने प्रबन्ध रचना को मुक्तक काव्य पर प्रधानता दी है अथवा निर्गुण-सगुण की ओर झुक गये हैं या लोकरंजन से श्रेष्ठ माना है। परन्तु अधिकांशतः वे तटस्थ ही रहे। यह तटस्थता आलोचक में होनी ही चाहिए। शुक्लजी एक उच्चकोटि के काव्य-मर्मज्ञ और सहृदय समालोचक थे। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उनके आलोचक रूप के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि, "शुक्लजी की सबसे बड़ी

विशेषता है, समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के किसी एक अंग को लेकर शुक्लजी की टक्कर लेने वाले अथवा उनसे विशेषता रखने वाले समीक्षक मिल सकते हैं पर सब अंगों के समान विकास उनका सा कोई कर सका है, मैं नहीं जानता। वे आलोचक या समीक्षक मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थों में साहित्य के आचार्य थे।"

शुक्लजी ने यूरोप के साहित्य क्षेत्रों में जल्दी-जल्दी होने वाले वाद परिवर्तनों पर अपनी आस्था नहीं रखी। उन्होंने इसे बदलते फैशन जैसी चीज बताया। न वे विभिन्न वादों की उलझन में पड़े और न सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रों के विचारधाराओं से जुड़े। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अपने युग के प्रति उनमें कोई जागरूकता न थी। उन्होंने जिस लोकचर्म के सिद्धान्त का बार-बार उल्लेख किया है। वह मध्यमवर्ग की उन आदर्शवादी धारणाओं से संयुक्त है जो बीसवीं सदी के प्रथम चरण की विशेषता थी।

शुक्लजी ने गंभीर समीक्षाएं प्रस्तुत कीं, परन्तु यत्र-तत्र उनमें हास्य-व्यंग्य का जुट भी बनाये रखा। विषय के गम्भीर विवेचन के पश्चात् और हास्य की यह मीठी-सी चोट पाठक का मन हल्काकर देती है और वह पुनः गम्भीर अध्ययन में लीन होने की सामर्थ्य पा जाता है।

शुक्लजी का मत यह भी है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक पहलू पर दृष्टि रखकर न की जानी चाहिए वरन् सर्वांगीण होनी चाहिए। आज समीक्षा के क्षेत्र में किसी एक कोने को पकड़कर ही खींचते चलने की जो प्रवृत्ति को साहित्यिक कनकौआ उड़ान कहाशुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र में अपनी अमिट छाप अंकित की। डॉ. नगेन्द्र ने लिखा। "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेघावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है। न केवल आलोचना अधि निबन्ध, कविता, इतिहास अनुवाद और सम्पादन आदि विविध क्षेत्रों में शुक्लजी की प्रतिभा क आलोचक विकीर्ण हुआ। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सत्य ही लिखा है. आचार्य शुक्ल दो महिमाशाली लेखकों में है जिनकी प्रत्येक पंक्ति आदर के साथ पढ़ी जाती है और भविष्य के प्रभावित करती रहती है। "आचार्य" शब्द ऐसे ही कर्ता साहित्यकारों के योग्य है। पं. रामबन् शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

शुक्ल जी ने प्राचीन युग की समीक्षा की वहीं नन्ददुलारे वाजपेई ने नवीन विकासोन्मुख साहित्य की समीक्षा की है। समीक्षात्मक दृष्टिकोण वाजपेयीजी ने हिन्दी आलोचना में अपने स्वच्छंद विचारों के साथ पदार्पण किया। एक कहावत है, 'नई शराब पुरानी बोतल में न भरनी चाहिए, वह फर जाती है।' इसी प्रकार नये काव्य की आलोचना भी पुरानी कसौटी पर ठीक-ठीक ढंग से नहीं हो सकती है। शुक्लजी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि की सर्वांगीण आलोचना करके हिन्टं आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित अवश्य किया था परन्तु उनकी नैतिकता की कसौटं पर सभी काव्य कसे नहीं जा सकते। इसलिए वाजपेयी ने शुक्लजी की दृष्टि को छायावादी काब के संदर्भ में अनुपयुक्त माना। उनका कथन था कि अपने पूर्वाग्रह और द्विवेदीयुगीन संस्कारो के कारण शुक्लजी छायावादी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते हैं। इसके लिये आलोचन की नई कसौटी होनी चाहिए। डॉ. भगवत स्वरूप मिश्र ने इसी बात को लक्ष्य करके लिख है-"वाजपेयीजी ने शुक्लजी के प्रबंध काव्यवाद तथा मर्यादावाद के कठोर नियन्त्रण से हिटं समीक्षा को मुक्ति दिलाई है।"

वाजपेयीजी की समीक्षा पद्धति का स्वरूप उनकी रचनाओं में मिलती है- (1) हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, (2) आधुनिक साहित्य, (3) जयशंकरप्रसाद, (4) महाकवि सूरदास, (5) प्रेमचंद, (6) कवि निराला तथा (7) नया साहित्य: नये प्रश्न।

छायावाद के प्रति आकर्षण छायावादी काव्य ने वाजपेयी की समीक्षा दृष्टि के निर्माग में महत् योग दिया। छायावाद की नूतन कल्पना छवियाँ, वायवीयत, अमूर्त भावों का चित्रर और लाक्षणिकता आदि की ओर वे विशेष आकृष्ट हुए। परिणामस्वरूप द्विवेदीयुगीन नैतिकत और इतिवृत्तित्मकता के प्रति वे स्वाभाविक रूप से विमुख रहे। साकेत की अभिव्यक्तियाँ उन प्रभावित न कर सकी। महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाव परिष्कार और संपादन को महत्व देते हुए उनके भी साहित्य की उन्होंने महत्वहीन माना। प्रेमचन्द के आदर्श को भी वे न सराह सकेऐसा प्रायः उनकी आरम्भिक आलोचनाओं में ही हुआ है वहाँ वे संयम न रख सके हैं। उदाहरण के लिए देखिए-प्रेमचंदजी एक शब्द को लेकर मजाक करने लगे यहाँ वाणी मौन वह साहित्य है। वह साहित्य नहीं गूंगापन है। यदि इस प्रकार की दलीलों वाणी मौन रहती है कह सकते हैं कि उपन्यास कहानियों और लेख लिखते समय क्या मिल की जाय तो हम भी करती हैं? आपकी किन-किन रचनाओं का कण्ठ फूट चुका है? क्या बात की वाणी चिल्लाया में हुआ है.

यह उद्धरण यदि एक ओर उनकी हास्य व्यंग्य की प्रवृत्ति का द्योतक है, आलोचना करते- करते, प्रतिपक्षी पर व्यंजक प्रश्नों की बोछार कर देने की प्रवृत्ति का परिचायक हैं, तो दूसरी और उनकी व्यक्तिगत आक्षेप करने की प्रवृत्ति का निर्देशक भी है। परन्तु आरम्भिक रचनाओं के बाद उनकी लेखनी में संतुलन आता गया है और उन्होने व्यक्तिगत आक्षेप करना छोड़ दिया। आधुनिक साहित्य तथा नया साहित्य नये प्रश्न में संकलित निबन्धों में उनक संतुलन देखा जा सकता है।

समन्वय भावना-वाजपेयी समन्यवादी समीक्षक हैं। उन्होंने स्वच्छंदता और सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति का शुक्ल पद्धति में समन्वय किया। शुक्लजी की विश्लेषणात्मक पद्धति को विस्तार देते हुए उन्होंने उसे निगमनात्मक कर दिया। शुक्लजी के नीतिवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए उन्होंने उसे लोक कल्याण में रूपांतरित कर दिया। साहित्य का उद्देश्य चित्रण-निर्माण है. शुक्लजी की इस धारणा को स्वीकार करते हुए साहित्य का उद्देश्य व सांस्कृतिक चेतना प्रदान करना मानते हैं। शुक्लजी रसवादी धारणा को अपनाते हुए भी वे उसका पाश्चात्य संवेदनीयता से समन्वय स्थापित करते हैं। वस्तुतः वाजपेयीजी को एक समृद्ध भाव भूमि प्राप्त हुई थी। उस समय हिन्दी आलोचना विकास की ऊँचाइयों पर पहुँची हुई थी। वाजपेयीजी को विरासत के रूप में शुक्लजी की अमूल्य सिद्धान्त-निधि मिली, अध्ययन-मनन के लिए पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त मिले और इसके साथ-साथ समकालीन विकासशील आलोचना का स्वरूप मिला। इस समय तक सिद्धान्त बन चुके थे, उपकरण निमित्त हो चुके थे। इसी बनी-बनाई पृष्ठभूमि पर कार्य करने के लिय जिस सजग आलोचना बुद्धि की आवश्यकता थी, उसका वाजपेयीजी में पूर्ण सन्निवेश था।

सौन्दर्य प्रेम-वाजपेयीजी की समीक्षात्मक दृष्टि को समझने के लिए हमें उनके सूर और प्रसाद की आलोचनाएँ देखनी आवश्यक है। सूर के गोचारण तथा गोवर्धन धारण के कथात्मक प्रसंगों का सौन्दर्य उन्हें अभिभूत किये बिना नहीं रहता। तभी वे लिखते हैं, स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटनाक्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाये, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। इससे प्रकट होता है कि सौन्दर्य बोध पर वाजपेयीजी की पूर्ण आस्था है। कदाचित् इसीलिए जयशंकर प्रसाद सर्वाधिक प्रिय कवि बने। डॉ रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है, कहना चाहे तो कह सकते • हैं कि यदि आचार्य शुक्ल के काव्य सिद्धान्त तुलसी के आधार पर निर्मित हुए हैं, तो वाजपेयीजी की मान्यताएँ प्रसाद से प्रभावित है।

प्रसादजी रसवादी (आनंदवादी) कलाकार थे और वाजपेयीजी रसवादी समीक्षक हैं। सौन्दर्य को वे नैतिकता के बंधनों में बाँधना चाहते हैं। शुक्लजी ने सौन्दर्य की शिवत्व से पूरित देखना चाहा था, वाजपेयी सौन्दर्य को स्वतः ही शिवत्वमय देखते हैं और उसे नैतिकता के बंधनों में आवृत्त करने के विरुद्ध है व मानते हैं कि श्रेष्ठ कला के श्लील-अश्लील का प्रश्न उठना अनुचित है। उनके शब्दों में "महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती।" उनका विश्वास है- सौन्दर्य स्वतः शिव है।"

4.5 डॉ. नगेन्द्र के समीक्षा-सिद्धान्तों का परिचय

उत्तर- आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी समीक्षा को नयी, उदार और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की थी। वे भारतीय वाङ्गमय से गुजरते हुए हिन्दी क्षेत्र में आ पहुँचे और ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति का श्रीगणेश किया। उन्होंने सामाजिक परिस्थिति, सांस्कृतिक चेतना, लोकजीवन, राजनीतिक उथल-पुथल को ही दृष्टि में रखकर साहित्य का परीक्षण किया, जिसे समाजशास्त्रीय- समीक्षा-पद्धति के नाम से जाना गया।

समीक्षा-क्षेत्र में उनका तटस्थ चिन्तन, पूर्वाग्रह रहित चिन्तन भी एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। परिणामतः उन्होंने मानव जीवन को केन्द्र मानकर ही साहित्य को देखने का प्रयास किया। उन्होंने वर्ग, जाति, धर्म, सम्प्रदायवाद में बँटी किसी इकाई को स्वीकार नहीं किया। इस एकात्मक भाव ने पूर्व और पश्चिम के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि को उभारा।

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के पक्षधर होने के कारण उन्होंने आलोचना में विविध ज्ञान शास्त्रो (इतिहास, धर्मशास्त्र, विज्ञान, पुराण, प्राच्यविद्या, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, प्रजनन शास्त्र, नृत्याशास्त्र, पुरातत्व, नीतिशास्त्र, कानून, राजनीतिशास्त्र आदि) को सहायक माना।

द्विवेदीजी के समीक्षा साहित्य को दो मोटे रूप में विभाजित किया जा सकता है-

(1) साहित्य सम्बन्धी, (2) समीक्षा सम्बन्धी।

1. भाषा और सहजता

(अ) सहज भाषा का स्वरूप "सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा के अर्थ हैं-सहज ही महान् बना देने वाली भाषा। रह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्ध- संस्कार और पर-मुखोपेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नहीं।... अनायास लब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कह सकता।"

(ब) सहज भाषा की प्राप्ति "सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज है। जब तक आदमी सहज नहीं होता, तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाषा प्राप्त होती है।"

2. साहित्य और सामंजस्य

(अ) सामंजस्य में ही सौन्दर्य- "साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम हैं।"

(ब) आन्तरिक और बाह्य सामंजस्य- "साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखाई देता है और साथ ही बाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरंभ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं।'

3. यथार्थवाद

'यथार्थवाद' पर उन्होंने कई दृष्टियों से विचार किया है, जिनमें से मुख्य हैं- यथार्थवाद का मूल सिद्धात, यथार्थवादी कलाकार के द्वारा अपनाये गये कौशल।

यथार्थवाद और अन्य वादों की तुलना

(अ) यथार्थवाद - "यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है-वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों से अनुरंजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिये उसे काट-छाँटकर उपस्थित करना।"

(ब) यथार्थवाद का प्रयोग कौशल उन्होंने स्वीकार किया कि वक्तव्य वस्तु को त्यों-का-त्यों उपस्थित करने के लिए यथार्थवादी लेखक कुछ कुछ कौशलों द्वारा आश्रय लेता है-

(i) वक्तव्य वस्तु के इर्द-गिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है और गन्दी और घिनौनी समझी जाने वाली चीजों का विशेष रूप से उल्लेख करता हैं।

(ii) समसायमिक घटनाओं और रीति-रस्मों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है।

(iii) वक्तव्य वस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र से सम्बद्ध नगण्य व्यक्तियों की भी चर्चा करता है।

iv) भिन्न-भिन्न पात्रों को बोलियों का हू-ब-हू लेखन करता है।

((v) विभिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुनकर संग्रह और व्यवहार करता है।

(vi) घटना की सच्चाई का वातावरण उपस्थित करने के लिये चिट्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जाने योग्य बातों को उपस्थित करता है।

(स) यथार्थवादी और अन्य वाद-प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है और इनका विशेष रूप से उल्लेख करता है। यथार्थवादी इन सिद्धान्तों को नहीं मानता।

4. मानवतावाद

मानवतावाद पर विचार करते समय उन्होंने जिन मुद्दों को उठाया, उनमें से प्रमुख है- मानवतावाद की पृष्ठभूमि, मानवतावाद का स्वरूप और भारतीय साहित्य पर प्रभाव और राष्ट्रीयवाद व मानवतावाद ।

(अ) मानवतावाद की पृष्ठभूमि-उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में प्रबल ज्ञान-पिपासा जाग्रत हुई और वहाँ दो चिन्तन विकसित हुए। पहला यह कि संसार में सब कुछ विकासशील है। मनुष्य का मन, बुद्धि संस्कार, धर्म, मत आदि। दूसरा यह कि सब शास्त्रों का, सब मतों का लक्ष्य मानव को सुखी बनाना ही है। ये दो धारणाएँ ही मानवतावाद के विकास का कारण बनी।

(ब) मानवतावाद-यह धारणा पनपी कि मनुष्य अनुभव शक्तियों का भण्डार है और उसके विकास की सम्भावनाएँ अनेक हैं। इसी मर्त्यलोक को अद्भुत अपूर्व शांति स्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावाद कहा गया।

(स) भारतीय साहित्य-ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ भारतीय चिन्तन में भी ईश्वर मोक्ष आदि पीछे छूटा और मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाने की भावना मुख्य हो उठी। प्रेमचन्द ने अपने पात्र से कहलाया जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और

उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है और जीवन को सुखी बनाना हो मोक्ष और उपासना है।

उनके अनुसार - "इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य के छायावाद का जन्म हुआ और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छन्दतावादी प्रेमधारा का भी जन्म हुआ।

(द) स्वदेशी राष्ट्रवाद-यूरोप में मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने की दृष्टि से स्वदेशी राष्ट्रवाद के आन्दोलन को बल दिया।

5. समालोचना और अध्ययन

(i) वैज्ञानिक और समालोचक- "अन्य वैज्ञानकि ठोस वस्तुओं की नाप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक आनिन्द्रिय ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तु की जाँच करता है-वैज्ञानिक का यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है, उतना कहकर बाकी के लिये भावी पीढ़ियों में कुतूहल और उत्सुकता का भाव जगाया जाय, यह नहीं कह दे कि बात किसी अज्ञात और अज्ञेय से आ रही है, समालोचक से हमारी यह भी शिकायत है।

(ii) समालोचक और अध्ययन-इस सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि साहित्य का अध्ययन साध्य रूप में नहीं, बल्कि साधन रूप में ही होना चाहिए। उसे अपनी आधुनिक समस्याओं के वर्तमान जटिल रूप के समझने में सहायक के रूप में ही अधिक देखना चाहिए। साहित्य अगर उसके लिये उपयुक्त अध्ययन सामग्री नहीं उपस्थित करता है तो वह बेकार है। इसी से मैं साधन रूप में साहित्य का अध्ययन करता हूँ..इस रूप में अध्ययन की चेष्टा बहुत कम हुई है।"

6. साहित्य में व्यक्ति और समष्टि

इस पर विचार करते समय उन्होंने दो तथ्यों की ओर संकेत किया है-

1. व्यक्ति और समष्टि का सम्बन्ध,

2 अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत और साहित्य ।

(i) व्यक्ति और समष्टि- "प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों को उपलब्धियों के सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियों के हाने-बाने से व्याक्ति की दुनिया बनती है वैयक्तिक तथ्य जगत निरन्तर दूसरे लोगों के उपलब्ध तथ्य जगत् से टकराते है।" इनसे बनी स्थिति को उन्होंने अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् कहा और यह भी स्वीकार किया कि हमारी ज्ञान राशि अधिकांश में वैयक्तिक म होकर अन्तर्वैयक्तिक है।

(ii) भाषा अन्तर्वैयक्तिक ज्ञान राशि की वाहक हमारी भाषा इन सामान्य तथ्यात्मक अनुभूतियों को एक व्यक्ति के चित्त से दूसरे चित्त तक ढोने का साधन भी है और दीर्घकाल से अनेक अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत के संघर्ष से विकसित होने वाली और संचित होती रहने वाली ज्ञान-राशि का वाहन है। यह भी गतिशील है।

(iii) सामाजिक मंगल का विधान व्यक्ति के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों से मिश्रित भाव, विचार की इकाई वस्तु समष्टि को व्यक्त करती है, वह उसे व्यष्टि की सत्ता भी विद्यमान रहती है वह अपने को समष्टि में विलीन करने को प्रयत्नशील रहता है और वैयक्तिकता की संकीर्ण भावना से उठकर समष्टि भावना से परिचालित होता है। यही स्थिति साहित्य की भी है।

"जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमे ऊपर उठा ले जाये और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव कराये, वहीं उपादेय हैं। उसके भावपक्ष के लिये किसी देश-विशेष या काल-विशेष की नैतिक आचार-परम्परा का मुँह तोड़ना आवश्यक नहीं है।"

निष्कर्ष-यों तो आचार्य द्विवेदी जी की महत्ता विशिष्ट है हो, पर इतिहास-लेखन के क्षेत्र में नाना सामाजिक, दार्शनिक राजनीतिक, पृष्ठभूमियों की गहराई में डुबकी लगाकर जो तत्व उन्होंने निकाले हैं, उनका अपना विशिष्ट महत्व है। उनको यह चिन्तन पद्धति निःसंदेह अन्य समकालीन इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न है, साथ ही प्राच्य और पाश्चात्य (मैक्समूलर वेबर आदि) को एक साथ उभारने वाले वे हिन्दी के प्रथम विद्वान माने जाते हैं, क्योकि उनका चिन्तन आत्मगत और पूर्वाग्रह प्रसित नहीं है।

डॉ. नगेन्द्र

4.6 डॉ. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

डॉ. नगेन्द्र भारतीय काव्य-शास्त्र और आलोचना क्षेत्र के एक ऐसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व है जो बौद्धिक प्रतिभा (जीनियस) के साथ-साथ सरसता एवं सरज्ञता से युक्त हैं। इस कवि-सुलभ रसिकता और सृजन-संवेदना के कारण इनकी आलोचना पद्धति में रसात्मक व्यंजना का स्पर्श है। डॉ.

नगेन्द्र की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने बहुत लिखा है, महत्वपूर्ण लिखा है और अच्छा लिखा है। इनका प्रमुख क्षेत्र तो काव्यालोचन का ही है, पर शास्त्रीय समीक्षा पर भी कम नहीं लिखा है। 'छायावाद' पर आपकी विशेष रुचि है। डॉ नगेन्द्र स्वदेशी साहित्य के प्रति पूर्ण अनुराग रखते हुए भी पाश्चात्य चिन्तन के प्रति किसी प्रकार की हेय दृष्टि नहीं रखते हैं, क्योकि उनकी चेतना पर मनोविश्लेषणवाद, उपयोगितावाद, प्रभाववाद और क्लासिज्म का समीकृत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस कारण उनकी आलोचना पद्धति को शास्त्रीय, प्रभाववादी एवं वैज्ञानिक स्वीकार किया जाता है।

डॉ नगेन्द्र का 'रस-सिद्धान्त' हिन्दी साहित्य की मूल्यवान कृति स्वीकार की जाती है, जिसकी अन्य अनेक विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि उसके निरूपण मे वैज्ञानिक चेतना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को नतूने प्रतिष्ठा देना और रसवाद को युगबोध एवं परिवेश के सन्दर्भ में स्वीकार करने का प्रयास करना। उनकी दृष्टि हिन्दी आलोचना के उस स्वरूप को विकसित करने की ओर केन्द्रित रही है, जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य शास्त्र का सामंजस्य बना रहे। उन्होंने इसके पुनरुत्थान का भी प्रयास किया है।

1. कामायनी का महाकाव्य कामायनी के महाकाव्य का विवेचन उन्होंने पूर्व और पश्चिमी दृष्टियों के समन्वय के आधार पर प्रस्तुत किया है और इसे महाकाव्य के सभी लक्षणों से युक्त माना है- "कामायनी का महाकाव्य असंदिग्ध है। परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था, अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र-दोनों में से किसी एक के भी लक्षणों का पूर्ण निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्वपूण लक्षण कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान है, केवल एक ही त्रुटि है वह है-कार्य व्यापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप कथा में वांछित भौतिक विस्तार नहीं आ सका, क्योंकि कामायनी का वस्तु विकास बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है। वह मानव-चेतना के विकास की कथा है जो मनु के जीवन-विकास के माध्यम से कही गई है। अतः साधारणीकरण के लिये यहाँ कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है, जिसके द्वारा मनु मानव-चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं।"

2. साधारणीकरण साधारणीकरण पर कई दृष्टियों से विचार किया है। यहाँ केवल मौलिक चिन्तन के कतिपय बिन्दुओं को ही उभारा जा रहा है-

(अ) साधारणीकरण किसका?- वे साधारणीकरण कवि की अनुभूति का ही मानते हैं-"साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।"

उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि "काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि- भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान से अधिक अनुकूल है।"

(ब) साधारणीकरण किस प्रकार सम्भव-इस समस्या पर विचार करते समय कि साधारणीकरण किस प्रकार सम्भव होता है या वह (कवि) किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है-वे अनेक देश-विदेश के पण्डितों की दलीलों की समीक्षा करते हुए कहते हैं-

* "साधारणीरण का आधार है-भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-भक्ति पर निर्भर करता है और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन शक्ति का आधार है-मानव सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी बहुत सभी में होती है, इसलिये साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं है, परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी, जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो. जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हो। ऐसा हो व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरो के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।"

3. रस की स्थिति

रस की स्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने कहा- "रस सर्वथा विषयगत है। हृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है। काव्य की आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं-कवि, वस्तु सहृदय।"

इन सत्ताओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वीकार किया कि कवि जब अपनी सहानुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है और उस संवेदित अनुभूति ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है, जितना सहृदय के में।

4. साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

(अ) आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व - "आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।"

(ब) आत्माभिवयक्ति का दार्शनिक पक्ष इस दृष्टि से उन्होंने 'आत्म' और 'अनात्म' की चर्चा करते हुए 'अद्वैतवाद' और 'भौतिकवाद' की चर्चा की है।

अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्मक को भ्रम करता है और भौतिकवाद आत्मा को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिये द्वैत स्वीकृत अनिवार्य है, चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण।'

(स) आत्माभिव्यक्ति के रूप- "आत्मा सतत् प्रयत्नशील है वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत् प्रयत्न करता रहता है-इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है-उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है-दूसरे शब्दों में, आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है, उसका नाम साहित्य है।"

(द) आंत्माभिव्यक्ति की सार्थकता- आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता पर लेख की दृष्टि से विचार करते हुए वे कहते हैं-

"जहाँ तक लेखन का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म परितोष में है- "काव्यशास्त्रियों ने जिसे सृजन सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना-चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा ही व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है।"

वे इस विवेचन के बाद निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं- "अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है।"

(य) आत्माभिव्यक्ति का उपयोग इस सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि- "पहला उपयोग तो यही है कि सह-अनुभूति के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनन्द उसका संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उसके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाता है-जीवन में रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लान्ति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है।" इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है।

5. रस सिद्धान्त का महत्व

रस सिद्धान्त की महत्ता को प्रस्थापित करते हुए उन्होंने कहा- "जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस-सिद्धान्त का पूर्ण सामंजस्य है, जिसमें विभिन्न वादों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं। कारण वास्तव में यह है कि यह सिद्धान्त मानवतावाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है। यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त राग-द्वेप के साथ स्वीकार करता है, इसलिये मानव के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानवतावाद मानव को अन्तिम सत्य मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है, उसी प्रकार मानव संवेदना को चरम सत्य मानकर रस-सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है।"

उन्होंने आगे यह भी स्वीकार किया कि "जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव-संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की कल्पना भी नहीं की जा सकी।"

निष्कर्ष-डॉ. नगेन्द्र का व्यक्तित्व और कृतित्व विशिष्ट तो है ही, साथ ही व्यापक अध्ययन की गहन गंभीरता के आधार पर निर्मित वैचारिक प्रौढ़ता और उसकी सरस प्रांजल अभिव्यक्ति से मिली-जुली उनकी समीक्षा पद्धति 'विशिष्ट' ही मानी जाती है। इस कारण हिन्दी आलोचना क्षेत्र में स्वतः उनका विशिष्ट स्थान बन गया है।

कुमार विलम के शब्दों में- नगेन्द्र शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा के गौरव शिखर हैं और उसे तत्वनिष्ठ आचार्यतत्व में मण्डित करने वाले विचारकों में अग्रगण्य है। उन्होंने कई दृष्टियों से शुक्लोत्तर समीक्षा को समृद्ध किया है और शुक्लोत्तर समीक्षा की इन मुख्य प्रवृत्तियों-शास्त्रीय, सौष्ठववादी, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और शोधपरक में से कई प्रवृत्तियों को अपने सबल योग से परिपुष्ट किया है। आने वाला

युग, सम्भवतः नगेन्द्र को हिन्दी- आलोचना का प्रवर स्थापित इसलिये मानेगा कि इन्होंने हिन्दी आलोचना के स्वरूप या स्थापत्य को गढ़ने का प्रयास किया है।

डॉ. रामविलास शर्मा डॉ रामविलास शर्मा साम्यवादी तो हैं ही, मार्क्सवादी चिन्तन से भी पूरी तरह प्रभावित उत्तर- हैं, पर अन्य प्रगतिवादियों के समान वे लकीर पीटने वाले आलोचक नहीं हैं। उनकी आलोचना दृष्टि व्यापक है, अतः उन्होंने प्राचीन साहित्य का भी परिपूर्ण गहराई से और तत्कालीन स्थिति विशेष के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है।

डॉ साहब में आलोचक का विशिष्ट गुण है। उनके अपने कुछ सिद्ध जीवन सिद्धान्त हैं, अतः वे साम्यवाद के साथ उन सिद्धान्तों से भी जुड़े रहे हैं। उनके जीवन चिन्तन के अनेक क्षेत्र हैं, पर यहाँ उनके चिन्तन को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य-शाश्वत साहित्य की रचना करना कितना असम्भव है, इस पर विचार करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि जिस समाज में वर्गभेद कायम है. से परे होकर किसी शाश्वत साहित्य की रचना करना असम्भव है।

2. प्रगतिशील साहित्य-प्रगतिशील साहित्य पर यह आपेक्षा है कि वह शाश्वत सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन साहित्य अमर है और वहीं शाश्वत है। इसका उत्तर देते सहय उन्होंने मार्क्सवाद की उस मान्यता को प्रस्तुत किया जो शाश्वत सत्य को स्पष्ट करती है और उन्होने यह माना कि मार्क्सवाद शाश्वत सत्य की धारणा को अस्वीकार करता हैरत है और को ऐतिहासिक विकास-क्रम में देखता है, उसे ऐतिहासिक परिस्थितियों से परे नहीं मानता।

3. सौन्दर्य का स्वरूप-सौन्दर्य के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने प्रश्न उठाया- सौन्दर्य क्या है? आगे उन्होंने कहा-प्रकृति मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है।

4. छायावाद-शुक्लजी ने छायावाद का प्रबल विरोध किया था। उसको प्रतिष्ठित करने का कार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र और डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। डॉ रामविलास शर्मा ने छायावादी काव्य और विशेषतः निराला की व्याख्या करते हुए छायावाद की प्रतिष्ठा में सहयोग दिया। 'निराला की साहित्य साधना' हिन्दी आलोचना की उपलब्धि मानी जाती है।

5. मार्क्सवादी-उनके इस चिन्तन की भी विशेषताएँ थीं। अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तरह उन्होंने मार्क्स साहित्य-सिद्धान्तों के कोरे सैद्धान्तिक प्रतिपादन से ही संतोष नहीं किया, बल्कि मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिन्दू साहित्य की परम्परा की नई व्याख्या प्रस्तुत करके मार्क्सवादी आलोचना के सामर्थ्य का परिचय दिया। डॉ नगेन्द्र के अनुसार उन्होंने 'भवभूति कालिदास' का विश्लेषण करते हुए अपने विषय को नवीन दृष्टि से प्रस्तुत किया। इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचक की दृष्टि से भारतीय साहित्य की समूची परम्परा का परिप्रेक्ष्य विद्यमान है जो उनके मूल्यांकन को शक्ति प्रदान करता है।

6. पुनर्व्याख्या और युगानुरूप विस्तार-हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में रामविलासजी ने शुक्लजी का विरोध नहीं किया, अपितु उनके विचारों की पुष्टि करते हुए उनकी पुनर्व्याख्या की और साथ ही युगानुरूप विस्तार भी किया। छायावाद के समर्थक और प्रगतिशील आलोचक-दोनों ही शुक्ल के सिद्धान्तों की आलोचना कर रहे थे, मानो यह कोई फैशन हो गया हो। ऐसे में डॉ रामविलास शर्मा ने आगे बढ़कर कहा- "हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का.....शुक्लजी ने न तो भारत में रूढ़िवाद को स्वीकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देश-भक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया। उनका

यह कार्य हर देश-प्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिये दिलचस्प होना चाहिए।" 7. परम्परा-उत्थान-डॉ शर्मा का इस दृष्टि से विशिष्ट महत्व है। उन्होंने अनेक दबी पड़ी पत्रिकाओं तथा दुर्लभ कृतियों की छानबीन करके युग के छोटे-बड़े गौण-प्रमुख लेखकों के कृतित्व के माध्यम से उदद्यकालीन हिन्दी साहित्य की जीवन्त तस्वीर 'भारतेन्दु-युग' नामक पुस्तक में प्रस्तुत की, जिसके माध्यम से अपनी परम्परा की एक अर्ध-विस्मृत और उ और उपेक्षित कड़ी को प्रेरणादायी रूप में उपस्थित किया।

8. पुनर्मूल्यांकन-प्रेमचन्द साहित्य के सामाजिक अर्थों और कलात्मक तत्वों का उद्घाटन करके प्रेमचन्द का पुनर्मूल्यांकन किया। यही बात निराला के विषय में भी कही जा सकती है। वैसे निराला के पक्ष का समर्थन नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी किया था, किन्तु निराला के साहित्य का वास्तविक अर्थोद्घाटन डॉ. शर्मा ने ही किया। इस दृष्टि से 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' 'सरोज स्मृति' आदि लम्बी कविताओं तथा परिमल के गीतों की व्याख्याएँ व्यावहारिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ नगेन्द्र की मान्यता- पुनर्मूल्यांकन यदि आलोचना के प्रमुख कार्यों में से एक है तो

रामविलास शर्मा ने निश्चय ही हिन्दी साहित्य के अनेक प्रमुख लेखकों का पुनर्मूल्यांकन किया और भारतेन्दु, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, निराला जैसे चार महारथियों की पूर्ण समीक्षा लिखकर एक तरह से आधुनिक हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

9. भाषा-शैली पर विचार-डॉ. रामविलास शर्मा ने लेनिन की भाषा को उत्तम भाषा करार दिया है। न्यूनाधिक भाषा में उनकी अपनी भाषा-शैली भी उसी के अनुरूप है। उन्होंने लिखा है-"शैली की स्पष्टता शब्दों का सधा हुआ प्रयोग, हास्य-विनोद और व्यंग्य के छीटे, क्रोध और आवेश के जलते हुए वाक्य, कहावते-मुहावरे, पुराने लेखकों की रचनाओं से उद्धारण- लेनिन की शैली की वस्तु है जो बतलाती है कि इस महान क्रान्तिकारी विचारक ने भाषा और शब्दों पर अपनी व्यंजना के माध्यम पर, साहित्य के रूप पर किस तरह अधिकार पर लिया है।"

10. आलोचना में व्यंग्य का पुट-आलोचना गम्भीर चिन्तन-मनन का क्षेत्र है, इसमें खण्डन-मण्डन पद्धति का तो प्रचलन प्राचीन काल से रहा है, पर हास्य-विनोद और तीखे व्यंग्य को सार्थक ढंग से उभारने की क्षमता रामविलासजी में दिखायी देती है, पर उनका व्यंग्य कहीं- कहीं अधिक तीखा हो गया है।

"ये साहित्यिक-प्रभु हिन्दी के नवीन साहित्यिक विकास को अपनी हिस्टीरिया की हँसी में उड़ा देना चाहते हैं। समाज के नैतिक कर्णधार, नायिका-भेद की शुद्ध साहित्यिक परम्परा के उत्तराधिकारी ऐसे गहरे बैठते हैं कि रसराज कान-मुँह नाक से उनके प्राणों तक पहुँच जाता है।"

11. प्रयोगवाद-वे भारतीय चिन्तन दृष्टि से जुड़े हुए थे और मार्क्सवादी चिन्तन से पूर्णतः प्रभावित थे, परन्तु 'प्रयोगवाद' उन्हें रुचिकर नहीं था। उन्होंने उसकी कई दृष्टि से आलोचना की है। यहाँ एक अंश प्रस्तुत है-

"विषय-वस्तु में निकम्मापन, निरर्थकता, निरुद्देश्यता, कभी लुढ़की सुराही पर कभी अपने पर अतुकान्त आहें भरना, यह है- प्रयोगवाद। इन कवियों के लिये जनजीवन तो हैं ही नहीं, आया है तो उन्हीं जैसा विकृत और निरुद्देश्य है।"

12. सामाजिक यथार्थ के पक्षघर-डॉ. शर्मा को कोरी सैद्धान्तिक एवं आदर्शवादिता रुचिकर नहीं है। उन्होंने साहित्य में सामाजिक यथार्थ के चित्रण का पक्ष लिया है। इसी से वे प्रेमचन्द से जुड़े और उनकी आलोचना का अधिकांश इस दृष्टिकोण से प्रभावित रहा है। उनकी यह धारणा मार्क्सवादी चिन्तन से पुष्ट हुई थी। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि प्रगतिशील साहित्य युग की माँग को पूरा करता हुआ समाज के यथार्थ और वास्तविक जीवन के निकट रहने वाला साहित्य है।

निष्कर्ष-मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे विवादास्पद किन्तु अन्यतम हैं- डॉ. रामविलास शर्मा। अंग्रेजी के अध्येयता और शिक्षक होते हुए भी डॉ रामविलास शर्मा ने हिन्दी भाषा और साहित्य के गौरव की रक्षा के लिये निरन्तर संघर्ष किया। वे अपनी खास विषाद शैली में लिखी विध्वंसात्मक आलोचनाओं के लिये स्मरण किये जाते हैं।

डाँ नगेन्द्र के अनुसार-हिन्दी आलोचना की भाषा के निर्माण में रामविलास शर्मा का योगदान महत्वपूर्ण है। शास्त्रीय दुरुहता से मुक्त बोल-चाल के पारदर्शी गद्य में जटिल सी जटिल बात को सुलझाकर कहने की कला में डॉ. शर्मा सिद्धहस्त हैं। उनके हाथो आलोचना जन- सामान्य के लिए भी पठनीय बन सकी।

4.7 सारांश

काव्य या कविता के आस्वादन, अनुशीलन या समीक्षा करने के लिए आवश्यक है कि काव्य के लक्षणों को सम्यक् रूप से समझा जाए। लक्षणों से ही किसी वस्तु का स्वरूप सहज रूप में बोधगम्य होता है। इसीलिए भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों, कवियों और समीक्षकों ने काव्य के लक्षण या स्वरूप के संबंध में अपने-अपने मतों को अभिव्यक्त किया है। भारतीय काव्यशास्त्र के मान्य आदि आचार्य भामह हैं, उन्होंने शब्दार्थ के समन्वित रूप को काव्य की सज्ञा दी। उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा उनके प्रभाव ग्रहण करते हुए काव्य की परिभाषाएँ दी गई हैं। काव्य-लक्षणों पर व्यापक रूप से विचार करने वाले संस्कृत के आचार्यों में भामह के बाद दण्डी, वामन, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ और पडितराज जगन्नाथ मुख्य है। सस्कृत के आचार्यों का काव्य स्वरूप निरूपण स्थूल से सूक्ष्म की और लक्षित होता है। प्रारंभिक काव्य-लक्षण अलकार सिद्धांत-सम्मत होने के कारण सौंदर्य तत्व प्रधान है। इसे काव्य का बहिरंग पक्ष माना गया है. क्योंकि इसमें अलंकार, वक्रता, निर्दोषत्व आदि पर विशेष बल है। दूसरे वर्ग के काव्य-लक्षणों में रस और ध्वनि को प्रमुखता मिली, यह काव्य का अंतरंग पक्ष है। आचार्यों द्वारा काव्य लक्षणों का खण्डन मण्डन तो किया गया किंतु काव्य के प्रमुख तत्व का तिरस्कार नहीं किया गया। अंतर केवल तत्व की प्रधानता का है, जिसे काव्य का प्रारूप या आत्मा सिद्ध किया गया। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक सिद्धांत- संप्रदाय विकसित हुए, यथा अलकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य।

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी काव्य-स्वरूप विवेचन किया है किंतु उसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है. भामह, मम्मट विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के यथों से हिंदी के आचार्य कवि विशेष रूप से प्रभावित हैं। हिंदी के आधनिक काल में समीक्षकों और कवियों द्वारा जो काव्य-परिभाषाएँ दी गई, उन पर पाश्चात्य-समीक्षा का भी प्रभाव है। आधुनिकालीन हिंदी के आलोचकों द्वारा मनुष्य और जीवन को केंद्र में रखकर काव्य परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई। पाश्चात्य विचारकों के काव्य-लक्षणों में संगीतात्मकता, जीवन-सत्य, कल्पना, अनुभूति, बुद्धितत्व आदि पर बल दिया गया है। समस्त भारतीय और पाश्चात्य काव्य-लक्षणों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट है कि काव्य की कोई एक निश्चित परिभाषा वस्तुनिष्ठ रूप में देना संभव नहीं है क्योंकि वह और समाज के परिवेश, परिस्थितियों तथा विचारधाराओं से प्रभावित होती रही है।

4.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

प्रश्न 1 काव्य-लक्षण का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 आचार्य भामह के काव्य-लक्षण की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3 कुंतक के काव्य-लक्षण की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4 मम्मट के काव्य-लक्षण का महत्व स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5 पंडितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण की विशेषताएँ लिखिए।

प्रश्न 6 हिंदी आलोचकों के काव्य-लक्षण संबंधी मतों का विवेचन कीजिए?

प्रश्न 7. आचार्य नंददुलारे बाजपेई अथवा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा सिद्धान्त की विशिष्टताओं का आंकलन कीजिये।

प्रश्न 8 डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा सिद्धान्त की विशिष्टताओं का आंकलन कीजिये।

प्रश्न 9 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना पद्धति पर प्रकाश डालिए और उनकी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं का उपस्थापन कीजिए।

प्रश्न 10 "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।" आचार्य हजारी- प्रसाद द्विवेदी के साहित्य सम्बन्धी मानवतावादी विचारों को प्रकट कीजिए।

प्रश्न 11 आचार्य पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धान्त' विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

प्रश्न 12 "आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक व्यापक अर्थ में 'सांस्कृतिक आलोचना" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 13 आचार्य नंददुलारे वाजपेयी या पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा-दृष्टि एवं शैली का विश्लेषण कीजिए।

प्रश्न 14 हिन्दी समीक्षा के विकास में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के योगदान का आंकलन कीजिए।

प्रश्न 15 डॉ. नगेन्द्र के समीक्षा-सिद्धान्तों का परिचय दीजिए।

प्रश्न 16 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचना सिद्धान्तों का परिचय दीजिए।

4.9 उपयोगी पुस्तकें

- उपाध्याय बलदेव - संस्कृत आलोचना, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।
- दीक्षित सूर्यप्रसाद (सं.) हिंदी का अपना काव्य-शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन हिंदी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
- मिश्र भागीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन,
- मिश्र भागीरथ, हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास (हिंदी विभाग)। ERSITY प्रकाशक, लखनऊ विश्वविद्यालय
- शर्मा रामानंद, भारतीय काव्य-शास्त्र लोकवाणी प्रकाशन, संस्थान दिल्ली।
- श्रीवास्तव देवकी नंदन, काव्यशास्त्र चर्चा- नंदन प्रकाशन, रानीकटरा, लखनऊ।
- हीरा राजवंश सहाय, भारतीय आलोचना शास्त्र, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना।
- हीरा राजवंश सहाय, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धांत, चौखभा, विद्याभवन, वाराणसी।
- वर्मा धीरेंद्र (सं.) हिंदी साहित्य कोष, भाग-1. ज्ञानमंडल लि. वाराणसी।

इकाई -5

हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियां : शास्त्रीय, ऐतिहासिक, तुलनात्मक , मनोविश्लेषणवादी सौन्दर्यशास्त्रीय, शैली वैज्ञानिक , समाज शास्त्रीय , लोकवादी तथा राष्ट्रीय।

रूप रेखा

5.1 प्रस्ताबना

5.2 उद्देश्य

5.3 शब्द संपदा

5.4 हिन्दी आलोचना का विकासात्मक क्रम

5.5 आलोचना विज्ञान है या कला

5.6 हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान

5.7 महत्वपूर्ण प्रश्न

5.8 सारांश

5.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

5.10 पठनीय पुस्तकें

5.1 प्रस्ताबना

आलोचनात्मक साहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि, "उन्होंने रस और अलंकार को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की और उन्हे ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बच गए। दूसरे शब्दों में शुक्लजी ने समीक्षा के लिए भारतीय सांचे को बना रहने दिया। नागीने आलोचना कारने दिया जायसी सूर और तुलसी जैसे श्रेष्ठ रस-सिद्ध कवियों को चुना और अपने भारखाना कार्य के लिए जायसी, एक गम्भीर अध्ययन तथा वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर उनके श्रेष्ठ का एवं योरोधीय सादिलाटन किया। ऐसा करते हुए उन्होंने काव्यऔर सौन्दर्य के साथ रस और काव्य-सौन्दर्य का उदघाटक रससिद्धान्त को एक अपूर्व दीप्ति और गौरव प्रदान किया। इस सम्भलंकार का विन्यास कार वाजपेयी ने बहुत ठीक लिखा है कि उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँचो भने आचार्य वन्दनातक स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गए कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।"

अपनी विवेचनात्मक एवंग भी हो सकलोचना पद्धति के द्वारा उन्होंने भारतीय समीक्षा पद्धति को गौरव ही प्रदान नहीं किया, अपितु यह भी दावा किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा शुक्लजी ने भारतीय और पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन एवं सुन्दर का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

समन्वय करके हमारे सामने आलोचना का स्वतन्त्र एवं मौलिक रूप प्रस्तुत किया। शुक्लजी ने आलोचना करते समय एक बहुत बड़ा काम किया। उन्होंने कवियों के गुण-दोष-विवेचन का कार्य बहुत कम किया, उन्होंने कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तःवृत्तियों के उद्घाटन पर विशेष बल दिया और इस प्रकार उन्होंने वैज्ञानिक समालोचना का रूप सफलतापूर्वक किया। शुक्लजी जायसी, सूर और तुलसी जैसे उच्च कोटि के कवियों की प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए। "इस कारण उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्खलित होने से बचे रहे।" (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)। हमारे विचार से आचार्य वाजपेयी यहाँ कुछ जल्दी कर गए। शुक्लजी की मान्यताएँ इतनी सुनिश्चित एवं सुदृढ़ थीं कि उनके विचलित होने अथवा स्खलित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। उनमें इतना नैतिक मनोबल भी था कि वह चाहे जब दो टूक बात भी कह सकते थे। उनकी कसौटी पर जो खरा नहीं उतरा, उसको उन्होंने अविलम्ब और निस्संकोच एक ओर कर दिया। जिस व्यक्ति को सूरदास जैसे महाकवि को साधन-पक्ष से विमुख कहते हुए संकोच नहीं हुआ, जिसने महाकवि केशवदास को धड़ल्ले के साथ 'हृदयहीन' कह दिया तथा रहस्यवाद और छायावाद को 'नया ऊँट' कह कर ही एक झटके में एक ओर बैठा दिया-उस व्यक्ति की मान्यताओं के स्खलन का प्रश्न उठाना कुछ अजीब सा प्रतीत होता छूटा है। शुक्लजी की मान्यताओं का यही सही रूप है और इसी दृष्टिकोण से हमें उनकी समीक्षा- समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। समीक्षा के क्षेत्र में पद्धति का मूल्यांकन करना चाहिए।" एवं उद्भावक ही नहीं, बल्कि हिन्दी

आलोचना का जन्मदाता कहना सर्वथा युक्ति-संगत है।' है। आगे चलकर स्वयं आचार्य वाजपेयी ने भी शुक्लजी की दृढ़ एवं मौलिक चिन्ता-धारा को इस प्रकार स्वीकार किया है

5.2 उद्देश्य

- औचित्य के अर्थ तथा स्वरूप को समझ सकेंगे,
- औचित्य के प्रयोजन को समझ सकेंगे,
- औचित्य के भेदों से परिचित हो सकेंगे.
- औचित्य की समस्याओं को समझ सकेंगे, और
- पाश्चात्य चिंतन के संदर्भ में औचित्य संबंधी विवेचन से परिचित होंगे।

5.3 शब्द संपदा

अभिषा शब्द शक्ति- जिस शब्द म्शक्ति से संकेतित या मुख्य अर्थ का बोध होता है.

व्याकरण - व्याकरण के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति प्रत्यय के द्वारा अर्थ का सहज ही बोध हो जाता है।

उपमान - उपमान का अर्थ है, समानता।

कोश - कोश से भी अभिधा शब्दशक्ति द्वारा व्यक्त संकेतित अर्थ का बोध होता है।

आप्तवाक्य - आप्त का अर्थ है प्रामाणिक या लोक प्रसिद्ध।

व्यवहार - व्यवहार ही वस्तुओं और उनके वाचक का संबंध जानने के लिए प्रमुख तथा व्यापक कारण है।

प्रसिद्ध पद का सानिध्य- प्रसिद्ध पद या शब्द के साथ प्रयुक्त होने से भी किसी शब्द के संकेतित अर्थ का बोध होता है।

वाक्यशेष- ज्ञात वाले पद की सहायता से अशात पद का अर्थ भी ज्ञात हो जाता है।

5.4 हिन्दी आलोचना का विकासात्मक क्रम

हिन्दी आलोचना का विकास

भारतीय साहित्य में आलोचना की परम्परा बहुत प्राचीन है, विशेषकर संस्कृत-साहित्य काव्यशास्त्रीय विवेचन से अत्यन्त समृद्ध है, परन्तु जिस रूप में आज हम आलोचना को स्वीकार करते हैं, वह आधुनिक युग की देन है। हिन्दी के मध्यकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में सैद्धान्तिक आलोचना की प्राचीन परम्परा ही सुरक्षित रही। गद्य की अन्य विधाओं की भांति हिन्दी आलोचना का उदय भी भारतेन्दु युग में हुआ। तब से लेकर वह अनवरत रूप से विकसित हो रही है। अब तो आलोचना प्रोढ़ता को प्राप्त हो गई है।

हिन्दी में आलोचना का प्रारम्भ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षाओं से हुआ। पं. बदरीनारायण द्वारा प्रकाशित 'आनन्द' कादम्बिनी नामक पत्रिका ने लला निवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा प्रकाशित करके वस्तुतः इस क्षेत्र से अग्रदूत का कार्य किया। इसके बाद स्वनाम-धन्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' का नाम आता है। इस पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने बहुत ही उपयोगी एवं महत्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में किया। उन्होंने भाषा-सम्बन्धी गुण-दोष का विवेचन तो किया ही था, साथ ही कुछ प्राचीन ग्रन्थों की परिचात्मक आलोचना की।

मिश्र-बन्धुओं, आचार्य पद्मसिह शर्मा तथा लाला भगवानदीन ने तुलनात्मक आलोचना की नींव डाली। मिश्र-बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्नबन्धु विनोद' में गुण-दोष-विवेचन की पद्धति जारी रखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने पाठकों का ध्यान कवियों की विषयगत और भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं की ओर भी आकर्षित किया। इन्होंने देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना करके तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में एक विवाद खड़ा किया, जो कई दृष्टियों से बहुत ही उपयोगी था। पं. पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' की भूमिका लिखकर आलोचना के सजीव रूप को प्रस्तुत किया।

यहाँ तक हमको रीतिकालीन सैद्धान्तिक पद्धति पर लिखी गई आलोचनाओं के भी यत्र-तत्र दर्शन होते रहे; जैसे (1) अलंकार ग्रन्थ-कन्हैयालाल पोद्दार कृत अलंकार प्रकाश और अलंकार मंजरी तथा लाला भगवानदीन कृत अलंकार मंजूषा, (2) रस-ग्रन्थ-कन्हैयालाल पोद्दार विरचित रस मंजरी तथा हरिऔध कृत रस, कलस, (3) श्रृंगार और नायिका-भेद ग्रन्थ-हरिऔध कृत-रस कलस तथा यशोदानंद लिखित बरवै नायिका भेद।

इनके अतिरिक्त परिचयात्मक आलोचना का प्रारम्भिक रूप सन्निहित रखने वाले भी कुछ ग्रन्थ मिलते हैं। जैसे-सभा विलास (लल्लूलाल), सुन्दरी तिलक (भारतेन्दु), रस-चन्द्रोदय (ठाकुर प्रसाद) इत्यादि । इसके पश्चात् इस क्षेत्र में डॉक्टर श्यामसुन्दरदास और आचार्य पं रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ।

इनके आगमन के साथ आलोचना साहित्य का पूर्ण विकास हो गया। उसमें शास्त्रों सैद्धान्तिक, व्याख्यात्मक प्रत्येक प्रकार की आलोचना को रचना हुई। शुक्ल जी ने तो का कवियों को अपनी आलोचना के आलोक में चमका दिया।

इसके बाद तो आलोचना की अबाध परम्परा ही दिखाई देती है। आजकल की आलोचना ने निबन्धों को निश्शेषप्रायः कर दिया है। ये आलोचनाएँ कई रूपों में दिखाई देती हैं। नित्य नवं आलोचक भी सामने आ रहे हैं। आजकल अनेक प्रकार की आलोचनाएँ देखने में आ रही भारतेन्दु से लेकर अब तक के आलोचना-साहित्य के विकासात्मक क्रम सुविधा है विचार से हम निम्नलिखित युगों में विभक्त करते हैं-

1. भारतेन्दु युग-आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता एवं पोषक भारतेन्दु हरिशचन् ने हिन्दी के सभी विधाओं में लेखनी चलाई। अतः हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ भी उन्हों के नाटक नामक ग्रन्थ से होता है। यह ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना का है तथा यह एक अत्यन प्रौढ़ रचना है जिसमे भारतेन्दुजी के प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का समन्वय है। उन्होंने अपने समकालीन नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित कि तथा अपनी मौलिक उद्भावनाएँ भी दीं। इस ग्रन्थ में भारतेन्दुजी की समीक्षा कहीं-कहीं तीयों और व्यंग्यात्मक भी हो गई है जैसे उन्होंने पारसी नाटकों की तीखी आलोचना की है।

भारतेन्दुजी के साथ ही इस युग में चौधरी बद्रीनारायण प्रेमधन ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी पत्रिका में संयोगिता स्वयंवर तथा 'बग विजेता' पुस्तकों की विस्तृत समीक्षाएँ की तथा वालकृष्ण भट्ट ने भी 'हिन्दी प्रदीप' में संयोगिता स्वयंवर की समीक्षा की। इस प्रकार भारतेन्दुजी ने हिन्द आलोचना का प्रवर्तन किया और प्रेमधन तथा बालकृष्ण भट्ट ने उस कार्य को आगे बढ़ाया यदि भारतेन्दु जी ने सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रारम्भ किया तो उक्त दोनों लेखकों ने हिन्दी में व्यावहारिक समीक्षा की आधारशिला रखी। इसके बाद भी पत्र-पत्रिकाओ में इन लेखको को समालोचनाएँ प्रकाशित होती रही। किन्तु इस युग में समीक्षा मुख्यत गुण-दोष विवेचनात्मत्र रही तथा वह लेख, पुस्तक परिचय, टिप्पणी, सम्पादकीय आदि के रूप में ही सामने आयी

2. द्विवेदी युग-1900 ई में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका का सम्पादन प्रारम्भ किया जिसके साथ हिन्दी समीक्षा में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। आचाय द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध चरित्र चर्चा' विक्रमांक देव चरित चर्चा आदि ग्रन्ये का प्रणयन किया। वैसे द्विवेदीजी से पूर्व भी गंगा प्रसाद अग्निहोत्री की समालोचना तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्य काव्य मीमांसा' शीर्षक छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाश में आ चुकां थीं। द्विवेदीजी ने अपने ग्रन्थों में प्राचीन तथा नवीन काव्यों के गुण-दोषों का विवेचन किया। स्वभाव से द्विवेदीजी शिक्षक, संशोधक एवं सुधारक थे। उन्होंने अपनी समीक्षाओं मे हिन्द कविता की श्रृंगाररिकता का डटकर विरोध किया तथा कविता में देश प्रेम तथा समाज सुधार की भावनाओं को स्थापना की हिमायत की। ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी द्विवेदी जी को ही है।

इसी युग में हिन्दी समीक्षा क्षेत्र के मिश्र बन्धुओं (गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र) का पदार्पण हुआ जिन्होंने 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबणु विनोद' ग्रन्थों की रचना की। 'हिन्दी नवरत्न' में उन्होने हिन्दी कवियो को श्रेणियो में विभाजित किया। इस ग्रन्थ में मिश्रबन्धुओं ने देव को विहारी से श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया। बिहारी पर किए गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर पं पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका लिखी जिसमें उन्होंने बिहारी की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयासा किया। पं कृष्ण बिहरी मिश्र ने 'देव और बिहारी' पुस्तक लिखी किन्तु उन्होंने भी बिहारी पर कुछ आक्षेप किए। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' पुस्तक में बिहारी की प्रतिष्ठा स्थापित की। इस चर्चा में हिन्दी में तुलनात्मक आलाचना का प्रभावात्मक आलोचना का सूत्रपात हुआ।

इसी युग में पद्मलाल पन्नालाल बख्शी तथा बाबू श्यामसुन्दर ने भी हिन्दो समीक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया ल्याव श्यामसुन्दर दास ने साहित्यालोचना तथा रूपक रहस्य जैसे सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रौढ़या चाकी रचना की। बख्शीजी ने विश्व साहित्य' नामक प्रन्च ने विश्व साहित्य का सामान्य परिचय किया। आचार्य शुक्ल का अवतरण इसी युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी समीक्षा अवतरण एक ऐतिहासिक घटना ण्णा इशुक्लजी से पूर्व हिन्दी समीक्षको के समक्ष न तो कोई आदर्श था न कोई सिद्धान्त ही। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने अपने ढंग से आलेचनाएँ लिखी जाती थीं। मगर शुक्लजी ने हिन्दी समीक्षा को सुनिश्चित मानदण्ड दिए तथा एक विकसित पद्धति प्रदान की। उन्होंने साहित्य की सूक्ष्म शक्ति भावो के उद्वेलन की शक्ति को समीक्षा की कसौटी के रूप में अपनाया। उन्होंने रस सिद्धान्त को नया जीवन प्रदान किया। उन्होन

सामाजिकता को भी साहित्य का एक तत्त्व माना तथा काव्य में लोकमंगल की भावना की स्थापना की। उन्होंने काव्य के भाव पक्ष व कला पक्ष दोनों पर समान रूप से विचार किया तथा उन्होंने 'कला के लिए' तथा 'कला जोवन के लिए' सिद्धान्तों को अपूर्व सामंजस्य प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र व पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी समन्वय किया। आचार्य शुक्ल क 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका' 'चिन्तामणी, 'गोस्वामी तुलसीदास', 'सूरदास' आदि महत्वपूर्ण समीक्षा ग्रन्थ है। तुलसी उनके आदर्श कवि हैं। उनकी समीक्षा शैली में सूक्ष्मता, गम्भीरता और प्रौढ़ता है तथा उनकी स्थापनाएं सर्वथा मौलिक है। उनके महत्व को स्वीकार करते हुए डॉ नगेन्द्र ने लिखा है- "आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में कदाचित यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी भारतीय भाषा में नहीं है।'

3. शुक्लोत्तर युग-शुक्ल जी के पश्चात् हिन्दी समीक्षा का विकास बहुत तेजी से हुआ तथा समीक्षा के सभी अंग पूरी तरह विकसित हुए हैं। इस युग के विकास को निम्नाकित समीक्षा प्रवृत्तियो के अन्तर्गत देखा जा सकता है-

(क) ऐतिहासिक समीक्षा-ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र मे आचार्य हजारीप्रससाद द्विवेदी, डॉ भागीरथ मिश्र प्रभूति आलोचकों ने महत्वपूर्ण यागदान दिया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य' उद्भव और विकास आदि ग्रन्थों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास पर नवीन दृष्टि से विचार करते हुए नई स्थापनाएं की है। संत साहित्य व आदिकाल पर उनका कार्य महत्वपूर्ण है। डॉ रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकाल एवं भक्तिकाल पर विस्तार से विचार किया है तथा नयी दृष्टि दी है। इनके अतिरिक्त डॉ केसरीनारायण शुक्ल आदि ने भी ऐतिहासिक समीक्षा को समृद्ध किया है।

(ख) सैद्धान्तिक समीक्षा-डॉ गुलाबराय, डॉ नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आचार्य बलदव उपाध्याय, डॉ राममूर्ति त्रिपाठी, आदि ने सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र को समृद्ध किया है। बाबू गुलाबराय की 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप' 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि कृतियों उल्लेखनीय है। डॉ नगेन्द्र इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के अधिकारी है। रांतिकाव्य की भूमिका', 'रस सिद्धान्त, 'काव्य विम्ब' 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' आदि ग्रन्थ उनकी समीक्षा मेघा का प्रमाण देते हैं। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को पुनर्जीवित किया है प्यार काव्यशास्त्र को हिन्दी में सुलभ किया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य शास्त्र डॉ राममूर्ति त्रिपाठी के भारतीय साहित्य दर्शन तथा 'रस विमर्श' डां रामलाल सिह के समीक्षा दर्शन' डॉ सत्यदेव चौधरी के रीतिकालीन आचार्य डॉ आनन्द प्रकाश दीक्षित के 'रससिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण' आदि ग्रन्थ इस प्रकार की समीक्षा के उल्लखनीय ग्रन्थ है। (ग) व्यावहारिक समीक्षा-आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में सर्वोपरि है। उनके 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' आधुनिक हिन्दी साहित्य, नय साहित्य नये प्रश्न, जयशंकरप्रसाद, सूरदास आदि ग्रन्थ अपनी मौलिकता के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पुराने आचायों में छायावादी काव्य को महत्व देने का साहस आचार्य वाजपेयी ने ही किया। इनके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ विनयमोहन शर्मा, डॉ हरिवंशलाल शर्मा, डॉ सत्येन्द्र, डॉ. पद्मसिंह शर्मा, कमलेश, डॉ गोविन्द त्रिगुणायत आदि के नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

(घ) मनोविश्लेषणवादी समीक्षा- इस क्षेत्र में डॉ देवराज उपाध्याय का नाम सर्वोपी है। उनके 'हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' जैनेन्द्र के 'उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययनः आदि ग्रन्थ सर्वथा नयी दृष्टि लेकर उभरे हैं। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, प्रकाशचन्द्र गुप्ता आदि के नाम भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

(ङ) मार्क्सवादी समीक्षा-डॉ रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, डा विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, नवल किशोर, डॉ रणजीत, अमृतराय आदि समीक्षकों के समीक्षकों के लिए जाते हैं। नाम मार्क्सवादी

(च) वैज्ञानिक समीक्षा-डॉ माताप्रसाद गुप्त का नाम इस क्षेत्र में बहुत आदर से लिया जाता है। उनके ग्रन्थ 'तुलसीदास', 'पद्मावत', चांदायन, मृगावती आदि उनकी वैज्ञानिक दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। इनके अतिरिक्त डॉ दीनदयाल गुप्त, डॉ विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. विजयपाल सिंह आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

(छ) लोक साहित्य सम्बन्धी समीक्षा डॉ. सत्येन्द्र का नाम इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण है। उनकी 'लोक साहित्य विज्ञान' कृति अपनी जैसी अकेली ही है। इसके अतिरिक्त डॉ. कन्हैयालाल सहल, डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ श्याम परमार, डॉ रवीन्द्र भ्रमर आदि के नाम भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

(ज) तुलनात्मक समीक्षा-इस प्रकार की समीक्षा का सूत्रपात द्विवेदी युग में ही हो गया था किन्तु इसका पूर्ण विकास शुक्लोत्तर युग में हुआ। डॉ नगेन्द्र ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन किया है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद तथा निराला का तुलनात्मक आकैलन

बड़ी सूक्ष्मता से किया। हिन्दी में अनेक ऐसे ग्रन्थ निकले हैं जो तुलनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं जैसे 'हिन्दी और गुजराती के कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' 'हिन्दी और कन्नड में भी भक्ति आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन' 'रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन' आदि। अनुसंधान और हिन्दी-समीक्षा-हिन्दी में अनुसंधान कार्य यद्यपि स्वतन्त्रता से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था तथापि इस कार्य को गति स्वतन्त्रता के पश्चात् ही मिली। भारत के विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग इस कार्य को गम्भीरता से ले रहे हैं। डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने हिन्दी में पहली बार शोध प्रबन्ध लिखा जिस पर उन्हें पेरिस विश्वविद्यालय से डॉक्टर को उपाधि मिली थी। हिन्दी में सभी प्रकार के विषयों पर शोध कार्य हुए हैं तथा हो रहे हैं। अनुसन्धान की प्रवृत्ति ने हिन्दी-समीक्षा को बहुत समृद्ध किया है।

हिन्दी में पाठ-शोध एवं टीका कार्य-पाठलोचन, पाठ-शोध अथवा पाठानुशीलन भी हिन्दी समीक्षा का ही एक प्रकार है। वस्तुतः प्राचीन कृतियों का शुद्ध पाठ निर्धारण करना एक कठिन कार्य है। इस कार्य के लिए प्राचीन भाषा का ज्ञान सतत् साधना तथा वैज्ञानिक दृष्टि को आवश्यकता होती है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस क्षेत्र में बड़ा सराहनीय कार्य किया है। 'पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो' जायसी ग्रन्थावली, कुतुबशतक आदि ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका पाठ उन्होंने निर्धारित किया है। पं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रामचरितमानस का पाठ अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति से किया है। डॉ पारसनाथ तिवारी ने कबीर की रचनाओं का शुद्ध रूप प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। टीका अथवा भाष्य लेखन भी समीक्षा का एक महत्वपूर्ण प्रकार है। हिन्दों में भक्तिकाल रीतिकाल पर ब्रजभाषी गद्यान भी समीक्षा का एक हुई। पुरानी टीकाओं में 'चौरासी वैष्णवों को वार्ता' तथा 'दो सी बावन वैबहुत सी टोकार हुई गुसाई हरिराय की तथा नाभादास के पक्तिकाल' पर प्रियदास की टोकाल की बात सरदार कवि ने 'कविप्रिया' 'रसिक प्रिया' बिहारी सतसई' आदि की टीकाएकाल प्रसिद्ध भगवानदीन की 'रामचन्द्रिका' कवि जगन्नाथ प्रसाद रत्लाकार द्वारा लिखित 'बिहारी रत्नाकर' नामक बिहारी सतसई को टीका अत्यन्त प्रसिद्ध, प्रामाणिक व विद्वतापूर्ण मानी जाती है। वियोगी हरि की 'विनय पत्रिका' की टीका तथा वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पद्मावत' की टीका बहुत प्रसिद्ध है। डॉ द्वारका प्रसाद सक्सेना लिखित लिखित 'कामायनी भाष्य' भी एक सुन्दर टीका है। हिन्दी की नयी-समीक्षा-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों का परिवर्तन हुआ है। साहित्य के मानदण्ड भी बदल गये हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में नव्य समीक्षा का अपना ही स्वरूप मुखरित हुआ है। नव्य समीक्षा में आलोचकों ने जीवन व काव्य साहित्य के नये मूल्यों का निर्धारण करने की दिशा में कार्य किया है जिसमें उन्होंने मानव और उसके अस्तित्व के स्वरूप पर विचार किया है। नये आलोचकों ने नये साहित्य का मूल्यांकन किया तथा पुरानी कृतियों का पुनर्मूल्यांकन किया है। इस प्रकार की समीक्षा में मानव नियति तथा उसके व्यक्तित्व को लेकर गम्भीरता से बिचार किया गया है। आज समीक्षक किसी बंधी बंधायी लीक पर न बलकर मौलिक कृतियों को उनके अपने स्वरूप में देखने की चेष्टा करता है। इस कार्य में मौलिक रचनाकारों का पूरा योगदान रहा है। डॉ रघुवंश की साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, अज्ञेय की 'आत्मनेपद', डॉ धर्मवीर भारती की 'मानव मूल्य और साहित्य' डॉ नामवरसिह की 'कविता के नये प्रतिमान', मुक्तिबोध की 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' आदि कृतियाँ नई समीक्षा की उल्लेखनीय रचनाएँ है।

5.5 आलोचना विज्ञान है या कला

आलोचना का सीधा सरल अर्थ है- "किसी कृति की गुण दोष युक्त विवेचना प्रस्तुत करना। जो लोग आलोचना का अर्थ मात्र दोष निकालना समझते हैं वे भ्रम के शिकार हैं और साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति नहीं माने जा सकते हैं। सम्भवतः ऐसे ही व्यक्तियों के भ्रम के कारण आलोचना के स्थान पर समालोचना शब्द व्यवहृत हुआ। हमार राय में आलोचना का कार्य सरल नहीं है और वह भी साहित्यिक साधना के समान ही महत्व रखती है। जिस प्रकार कोई सूजक ध्यानस्थ होकर एकांतिक क्षणों में साहित्यिक सृजना करता है, उसी तरह आलोचक भी वैसी ही साधना करता है। ऐसी स्थिति के कारण ही यह कहा जाता है कि आलोचना साहित्यिक साधना है। उसे व्यवसाय या विज्ञापन समझना भूल है। जो लोक आलोचना को व्यवसाय और विज्ञापन मानते हैं, वे सच्चे साहित्यकार नहीं है।

मार्मिकता और अभिव्यंजना-आलोचना साहित्यिक साधना है। ऐसा मानने के कई कारण है। पहला कारण तो यह है कि साहित्यिक साधना करने वाला व्यक्ति कल्पना, कला और बुद्धि सभी का समुचित प्रयोग करता है। उनके समुचित उपयोग के बिना आलोचना भी नहीं हो सकैती है। डॉ नगेन्द्र ने इसलिए आलोचना को ललित साहित्य का अंग कहा है। ठीक भी है कि कलाकार ने जिस भावना और विचारणा से प्रेरित होकर लिखा है, उसी सीमा तक आलोचक भी यदि भावुक नहीं होगा, संवेदनशील नहीं होगा तो फिर वह कैसे समीक्षा लिख पाएगा ? वह कलाकार द्वारा व्यक्त भाव-संवेदनाओं को हृदयंगम नहीं कर पाएगा और जब ऐसा नहीं होगा तो फिर उसकी आलोचना मात्र व्यावसायिक और विज्ञापनी वृत्ति से प्रेरित

होगी। अतः निर्णयात्मक स्वा मे आलोचना साहित्य का अंग है-साहित्यिक संसाधना है। जब वह साहित्यिक साधना है तो स्वतः ही यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वह कला है।

व्यवसाय मानना अनुचित-आलोचना को व्यवसाय मानना अनुचित है। कारण उसे व्यवसाय या विज्ञापन तक सीमित करने का अर्थ है कला तत्व की अस्वीकृति। जो लोग आलोचना को विज्ञापन या व्यवसाय से जोड़ते है वे वो लोग हैं जो आलोचना का अर्थ मात्र दोषनिर्धारण समझते हैं। दोष निकालने अथवा व्यवसाय करने में बुद्धि को आवश्यकता अधिक पड़ती है। इस स्थिति में यदि आलोचना आ जाये तो वह बहुत कुछ विज्ञान के निकट पहुँच जाती है जो कोरे बुद्धिवाद से प्रेरित होकर लिखी जाती है। यह ठीक है कि आलोचना में भी विज्ञान के तत्व सम्मिलित रहते हैं और मनुष्य की व्यावसायत्मिकता बुद्धि कार्यरत रहती है, किन्तु एक सीमा तक। इसका अतिरेक वहाँ नहीं होता है। अतः यही कहना उपयुक्त है कि आलोचना साहित्यिक साधना है-कला है, विज्ञानवाद से प्रेरित्त व्यवसाय नहीं है। यो भी आलोचक बनने के लिए राहृदयता, प्रतिभा, अन्तर्दृष्टि, विषयबोध, सहानुभूति और सरल व्यक्तित्व अपेक्षित होता है। ऐसी स्थिति में आलोचना व्यवसाय कैसे हो सकती। इसी से यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ है

कि आलोचना विज्ञान है या कला। आलोचना कला है या विज्ञान यह प्रश्न नया नहीं है। आलोचना का स्वरूप व महत्व प्रतिपादित करते समय इस प्रश्न का समाधान आज की आवश्यकता है। आलोचना, मूल्यांकन का कार्य है निष्पक्ष विवेचना। विवेचना करना एक बात है और निष्पक्ष निर्णयात्मक विवेचना करना उससे भी बड़ी बात है। सामान्यतः आलोचना को साहित्य का अंग माना जाता है। जब इसे साहिता का अंग मान लेते हैं तो इसको विज्ञान की कोटि में रखते हैं। उसके दो कारण हो सकते हैं

1. विज्ञान परीक्षण सिद्ध तथ्यों का निष्पक्ष विवेचन व समर्थक होता है। वह प्रयोग व परीक्षण के बिना किसी भी कथन को स्वीकार नहीं करता है।

2. विज्ञान तर्काश्रित है। उसमे विकल्प की गुंजाइश ही नहीं है। आलोचना भी तर्काभाव मे सम्भव नहीं है तथा संकल्पित प्रज्ञा का परिणाम है इन कारणों से विद्वानों ने आलोचना कार्य को भी विज्ञान से जोड़ दिया है। इस दृष्टि से तो आलोचना को विज्ञान मानना उचित ही प्रतीत होता है।

लेकिन बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। कारण, आलोचना केवल निर्णय नहीं है। वह विषय की व्याख्या भी है और उसको सही रूप में प्रदान करने की कला भी है। विज्ञान का सम्बन्ध तो मात्र तर्क व परीक्षण से ही है। जबकि आलोचना का सम्बन्ध तर्काश्रित होकर भी भावना से बराबर बना रहता है। साहित्य जीवन की व्याख्या है और आलोचना जब तो व्याख्या ही व्याख्या हो जाती है, व्याख्या मे मात्र निर्णयों से काम नहीं चलता है। उसमें निर्णयों तक पहुंचने से पूर्व विषय को समझना पड़ता है। कलाकार या रचनाकार के मानस से उद्भव वस्तु को हृदयगम करना पड़ता है। इसी भूमिका पर आलोचना साहित्य की श्रेणी में आ जाती है। जालोचना का इस श्रेणी में आ जाना ही इस बात का प्रमाण है कि वह कला है साहित्य का ललित और आकर्षक अंग है, विज्ञान नहीं है।

आलोचना के विज्ञान न मानने के कारण

विज्ञान पूरी तरह तथ्यों पर आधारित होता है। वह तथ्यों और प्रयोगों के बिना एक कदम भी नहीं चल सकता है। तथ्यान्वेषण और उसका प्रमाणीकरण विज्ञान का कार्य है, उसको प्राणशक्ति है। साहित्य में तथ्य की अपेक्षा सत्य और सत्यान्वेषण का महत्व होता है। यो भी विज्ञान और साहित्य के सत्य में अन्तर है-

1 विज्ञान की प्रकृति विश्लेषणात्मक और 'आपरेटिव' होती है। वह हर वस्तु को तार- हार करके देखता है जबकि साहित्य और साहित्यकार की प्रकृति संश्लेषणात्मक होती है। वह बिखरे हुए तत्वों में विश्लेषण करता है। आलियका भी संश्लेषण ही करती है। विश्लेषण तो उसकी विधि है जिसके द्वारा वह संश्लेषण तक की यात्रा करती है। अतः आलोचना विज्ञान नहीं हो सकती है।

2 विज्ञान प्रयोगों से परिणामों को प्राप्त करता है और साहित्य परिणामों से प्रयोगों तक का अनुसन्धान करता है। आलोचना भी साहित्य में प्रस्तुत परिणामों के सहारे ही सत्यान्वेषण का कार्य करती है। अतः वह विज्ञान नहीं है।

3 आलोचना सहृदयता की अपेक्षा करती है और विज्ञान सहृदय व कारूणिक होकर असफल हो जाता है। यदि आलोचना सहृदय नहीं है तो वह ईमानदार नहीं हो सकती है। इसीलिए उसे रसग्राही होना पड़ता है।

4 आलोचना-व्यापार में कवि-व्यापार भी शामिल है विज्ञान में यह बात नहीं है। यदि आलोचना कवि के मानस और उसमें तरंगित विचारों, भावों और अनुभूतियों के साथ तादात्म्य नहीं करता है तो वह वर्ण्य-विषय का हृदयंगम ही नहीं कर पाएगा। फिर हृदयंगम करना और तब विषय का पुनः सृजन कैसे सम्भव होगा। स्पष्ट ही आलोचक को पुनः सृजन करना पड़ता है। अतः उसकी आलोचना विज्ञान नहीं हो सकती है।

5. रसास्वादन किए बिना आलोचना नहीं हो सकती है। विज्ञान की स्थिति अवश्य सम्भव है। 'प्रतिमा' शब्द में ही सहृदयता और भावुकता का समावेश रहता है। कारण नवनवोन्मेषशालिनी होती है। यही प्रतिभा आलोचक का प्रथम गुण होता है। ऐसी स्थिति में आलोचना के विज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

6. कविता, नाटक और उपन्यास की भाँति आलोचना भी सृजनात्मक से युक्त रहती है। कवि यदि रमणीय अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि को इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से ऐसी स्थिति में आलोचना साहित्य का ही अंग है, विज्ञान का नहीं।

सम्भवतः इसी कारण डॉ नगेन्द्र ने आलोचना का अन्तःस्वरूप विश्लेषित करते समय उसे ललित साहित्य का अंग माना है। उनके ही शब्दों में- "आलोचना की आत्मा कलामय" है किन्तु इसकी शरीर रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ है कि आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है। आलोचना का विषय रसात्मकता होता है और उसकी परिणति भी आत्म सिद्धि में ही है। अतः रस का अभिषेक आलोचना में रहता है। शरीर के वैज्ञानिक होने का अर्थ यह है कि उसमें विज्ञान के नियमों का प्रयोग करना पड़ता है। विश्लेषण, तर्क, उटस्थता और प्रयोग सिद्धि आलोचना के बाहरी शरीर के लिए आवश्यक है। ऐसि स्थिति में आलोचना को कला माना जा सकता है, विज्ञान नहीं। विज्ञान बनकर आलोचना शुष्क, नीरस और अव्यावहारिक हो जाती है।

इसको भुलाकर आलोचना अपना काम नहीं चला सकती है, विज्ञान चला सकता है। अधिक से अधिक आलोचना वैज्ञानिक हो सकती है। ऐसा होना उसके लिए जरूरी भी है। बाह्य प्रकृति से आलोचना का वैज्ञानिक होना आवश्यक है और आन्तरिक प्रकृति के अनुसार उसका रसात्मक होना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति मे आलोचना को कला ही कहा जा सकता है, विज्ञान नहीं। विज्ञान बोध पाकर आलोचक सटीक, तार्किक और अच्छा विश्लेषक हो सकता १. किन्तु सहृदय एवं रसग्राही होना सम्भव नहीं है। रसग्राही हुए बिना आलोचक साहित्य के मर्म का उद्घाटन नहीं कर सकता है। कल मिलाकर यही निष्कर्ष निकलता है कि आलोचना मार्मिक अभिव्यंजना है, कला है, विज्ञांन नहीं। उसकी अन्तःप्रकृति रस निरूपिणी है।

यद्यपि यह सही है कि वैज्ञानिक के लिए जिस वस्तुनिष्ठ दृष्टि, व्यवस्थित तर्क सम्मत्र विवेचन तथा नियम स्थापना की आवश्यकता पड़ती है और ये आवश्यकताएँ समालोचक के लिए भी अपरिहार्य हैं। वैज्ञानिक की भांति ही आलोचक को निर्णय देता है-अपनी धारणा प्रस्तुत करता है। वह ज्ञान वृद्धि भी करता है। ये बातें आलोचना को विज्ञान के निकट ले जाती हैं। इतने पर भी स्मरणीय तथ्य यह है कि आलोचना यह सब होकर रसग्राहिता व मर्मोद्घाटन क्षमता को लेकर व्यर्थ हो जाती है। आलोचक कृति की व्याख्या करके उसके, सौन्दर्य के उद्द्घाटन द्वारा काव्यगत रस को सहृदय तक प्रेषित करता है। वह एक सहृदय पाठक है, ज्ञानवर्धक और विश्लेषण तो बाद में आते हैं। पहले तो आलोचक को भी भाव, रस-मीमांसा और साहित्य के मर्म से जूझना पड़ता है अर्थात् उसे हृदयंगम करना पड़ता है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक होता है कि इसे किए बिना आलोचना-कर्म सही ढंग से निभाना कठिन है। आलोचक को सही अर्थों में पहले रसज्ञ पाठक बनना पड़ता है। अतः निश्चय ही आलोचना कला है, विज्ञान नहीं है। अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि उसकी शैली वैज्ञानिक है लक्ष्य तो साहित्य का आस्वादन और अभिव्यंजन ही है। अतः आलोचना कला है भले ही वह अपनी प्रकृति में वैज्ञानिक ही क्यों न हो।

5.6 हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान

हिन्दी में आलोचना का वास्तविक आरम्भ वस्तुतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आगमन के साथ ही होता है। इनके पहले जो कुछ भी आलोचना थी उसे आलोचना की पृष्ठभूमि हो कहा जा सकता है।।

रीतिकाल में लिखे गए लक्षण ग्रन्थों को आलोचना ग्रन्थ न कहकर एक विशिष्ट परिपाटी पर लिखे गए काव्य के अंगों-उपांगों का निरुपण करने वाले ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। भारतेन्दु- युग में आलोचना का क्षेत्र सामान्य परिचय तक सीमित रहा और उसके पश्चात् डॉ. श्यामसुन्दर दास के समय तक आलोचना का स्वरूप सामान्य गुण-दोष कथन ही रहा उसका कोई स्वतन्त्र एवं मौलिक स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं हो सका। इसी समय शुक्लजी ने इस क्षेत्र में पर्दापण किया। डॉ. नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, "हिन्दी आलोचना की इसी प्रारम्भिक किन्तु नवचेतन अवस्था में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ।" उनके आगमन के साथ ही हमें स्वतन्त्र आलोचना के क्षेत्र में मौलिक चिन्तन का प्रशस्त मार्ग दिखाई देता है। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में जिस समय विस्तार, वृद्धि और नवचेतन की अवस्था थी. उसी समय इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने समीक्षा के दो क्षेत्रों को अपनाया-

(क) साहित्य की धाराओं का क्षेत्र-इसके अन्तर्गत उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आता है तथा

(ख) प्रसिद्ध कवियों की समालोचना का क्षेत्र; इसके अन्तर्गत जायसी, सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास की विस्तृत समीक्षाएँ आती हैं। शुक्लजी के आते ही हिन्दी आलोचना की काया पलट ही गई। विद्वानों ने शुक्लजी के आलोचना सम्बन्धी योगदान का मूल्यांकन विभिन्न प्रकार से किया है। एक विद्वान का कहना है कि "उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में क्रमशः जो युगान्तकारी कार्य प्रेमचन्द और प्रसाद ने किया, वही कार्य आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी ने किया।" शुक्लजी के आलोचनात्मक साहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि, "उन्होंने रस और अलंकार को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की और उन्हे ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बच गए। दूसरे शब्दों में शुक्लजी ने समीक्षा के लिए भारतीय सांचे को बना रहने दिया। नागीने आलोचना कारने दिया जायसी सूर और तुलसी जैसे श्रेष्ठ रस-सिद्ध कवियों को चुना और अपने भारखाना कार्य के लिए जायसी, एक गम्भीर अध्ययन तथा वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर उनके श्रेष्ठ का एवं योरोधीय सादिलाटन किया। ऐसा करते हुए उन्होंने काव्यऔर सौन्दर्य के साथ रस और काव्य-सौन्दर्य का उदघाटक रससिद्धान्त को एक अपूर्व दीप्ति और गौरव प्रदान किया। इस सम्भलंकार का विन्यास कार वाजपेयी ने बहुत ठीक लिखा है कि उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँचो भने आचार्य वन्दनातक स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गए कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।"

अपनी विवेचनात्मक एवंग भी हो सकलोचना पद्धति के द्वारा उन्होंने भारतीय समीक्षा पद्धति को गौरव ही प्रदान नहीं किया, अपितु यह भी दावा किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा शुक्लजी ने भारतीय और पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन एवं सुन्दर का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

समन्वय करके हमारे सामने आलोचना का स्वतन्त्र एवं मौलिक रूप प्रस्तुत किया। शुक्लजी ने आलोचना करते समय एक बहुत बड़ा काम किया। उन्होंने कवियों के गुण-दोष-विवेचन का कार्य बहुत कम किया, उन्होंने कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तःवृत्तियों के उद्घाटन पर विशेष बल दिया और इस प्रकार उन्होंने वैज्ञानिक समालोचना का रूप सफलतापूर्वक किया। शुक्लजी जायसी, सूर और तुलसी जैसे उच्च कोटि के कवियों की प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए। "इस कारण उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्खलित होने से बचे रहे।" (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)। हमारे विचार से आचार्य वाजपेयी यहाँ कुछ जल्दी कर गए। शुक्लजी की मान्यताएँ इतनी सुनिश्चित एवं सुदृढ़ थीं कि उनके विचलित होने अथवा स्खलित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। उनमें इतना नैतिक मनोबल भी था कि वह चाहे जब दो टूक बात भी कह सकते थे। उनकी कसौटी पर जो खरा नहीं उतरा, उसको उन्होंने अविलम्ब और निस्संकोच एक ओर कर दिया। जिस व्यक्ति को सूरदास जैसे महाकवि को साधन-पक्ष से विमुख कहते हुए संकोच नहीं हुआ, जिसने महाकवि केशवदास को धड़ल्ले के साथ 'हृदयहीन' कह दिया तथा रहस्यवाद और छायावाद को 'नया ऊँट' कह कर ही एक झटके में एक ओर बैठा दिया-उस व्यक्ति की मान्यताओं के स्खलन का प्रश्न उठाना कुछ अजीब सा प्रतीत होता छूटा है। शुक्लजी की मान्यताओं का यही सही रूप है और इसी दृष्टिकोण से हमें उनकी समीक्षा- समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। समीक्षा के क्षेत्र में पद्धति का मूल्यांकन करना चाहिए।" एवं उद्भावक ही नहीं, बल्कि हिन्दी आलोचना का जन्मदाता कहना सर्वथा युक्ति-संगत है।' है। आगे चलकर स्वयं आचार्य वाजपेयी ने भी शुक्लजी की दृढ़ एवं मौलिक चिन्ता-धारा को इस प्रकार स्वीकार किया है- "उत्तानमूलक आदर्शवादी विचारणा से उनका सम्पर्क कभी नहीं उनके योगदान का मूल्यांकन करते हुए हमें उनकी निम्नलिखित उपलब्धियाँ होती हैं-

(1) आचार्य शुक्ल हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक और प्रौढ़ आलोचक है-उन्हें हम हिन्दी आलोचना के वास्तविक स्वरूप के जन्मदाता कह सकते हैं।" वस्तुतः आचार्य शुक्ल में ही सर्वप्रथम उस संगति के दर्शन हुए जो हिन्दी आलोचना सिद्धान्तों को किसी प्राच्य अथवा पाश्चात्य सिद्धान्त से नहीं, अपने लक्ष्य-ग्रन्थों और सृजनशील चेतना से जोड़ती है।

(डॉ जयचन्द राय)

(2) उन्होंने मौलिक सिद्धान्त विवेचन किया और आलोचना के क्षेत्र में स्वतन्त्र-चिन्तन का विकास किया। संक्षेप में शुक्लजी ने हिन्दी में मौलिक शास्त्र का निर्माण किया। "उन्होंने विपर्यस्त लक्षण-प्रन्यों की परम्परा को साहित्य-शास्त्र की पदवी पर पहुंचाया, उसे आदर्शात्मक रूप दिया।"

(आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)

(3) शुक्लजी ने भारीतय समीक्षा के आदर्श की प्रतिष्ठा की शुक्लजी ने रस और अलंकार को दोप्ति प्रदान की, रस-सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक भूमि प्रदान की तथा लगभग तीन सौ वर्ष बाद साधारणीकरण का पुनरुत्थान किया। भारतीय समीक्षाशास्त्र के परम्परागत आदर्श की प्रतिष्ठा का श्रेय शुक्लजी को ही है।

(4) शुक्लजी ने कविता के स्वरूप, सौन्दर्य और उसकी शक्ति पर सर्वप्रथम मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। शुक्लजी की विवेचना के अभाव हमें कदाचित यह ध्यान बहुत बाद में आया कि भारतीय मनीषियों ने इस विषय में वैज्ञानिक पद्धति पर विचार किया था। "उन्होंने सैद्धान्तिक विचारणा को गहरी गति व उत्तेजना प्रदान की। कविता के स्वरूप, शक्ति और सम्भावनाओं पर उन्होंने हिन्दी में पहली बार तलस्पशों एवं प्रौढ़ चिन्तन प्रस्तुत किया।"

(डॉ. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल)

(5) उन्होंने सशक्त मौलिक व्याख्यान द्वारा सैद्धान्तिक समीक्षा का सफल व्यावहारिक प्रयोग किया। आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता है-सैद्धान्तिक समीक्षा के सुनिश्चित आधार का निर्वाह। उन्होंने यह दिखा दिया कि व्यावहारिक समीक्षा में सुनिश्चित समीक्षा-सिद्धान्तों के निर्वाह द्वारा पूर्ण और वैज्ञानिक आलोचना किस प्रकार प्रस्तुत की जाती है।

(6) लोक-मंगल के सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने समीक्षा के सामाजिक सम्पर्क की स्थापना को। उनका यह सिद्धान्त भारतीय वर्णाश्रम की श्रेष्ठता, कर्तव्यों के निर्वाह और लोकादर्शवाद पर आधारित है। शुक्लजी साहित्य और जीवन को अन्योन्याश्रित मानते थे। वह लोक जीवन से विमुख काव्य की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। यथा- "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक ज्ञानबद्ध है" तथा "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहिचान हो।"

शुक्लजी यद्यपि रसवादी थे, तथापि वह रससिद्धि अथवा आनन्द की प्राप्ति को ही काव्य का लक्ष्य अथवा सर्वस्य नहीं मानते थे। इसको लेकर यदि कुछ लोग शुक्लजी पर यह आरोप लगाते हैं कि उनका दृष्टिकोण एकांगी समाजशास्त्रीय है, तो इसका कोई इलाज नहीं है। इस आधार पर शुक्लजी की जो देन है, उसको डॉ. रामविलास शर्मा ने बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट किया है- "लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया।"

(7) शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना में पहली बार रचनाकार की अन्तवृत्तियो, उसके मानस- विश्लेषण की महत्ता का प्रतिपादन किया। सूर की आलोचना में मानव अन्तःप्रकृति और गोस्वामी तुलसीदास की आलोचना में भक्ति के नाना सूक्षातिसूक्ष्म उपादानो का विश्लेषण इसी पद्धति पर किया गया है।"

(8) आलोचना करते समय उन्होंने समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास किया। उन्होंने काव्य के सभी अंगों पर विचार किया है तथा सभी प्रकार की समीक्षा पद्धतियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

कुछ लोगों ने शुक्लजी के ऊपर अत्यधिक गम्भीरता, नैतिक विचारणा के प्रति अत्यन्त आग्रह तथा व्यक्तिगत रुचि का आरोप लगाया है। हमारे विचार से इसे उनका गुण ही माना जाना चाहिए। उन्होंने एक बार जो सिद्धान्त निश्चित कर लिए, उनका उन्होंने पूरी निष्ठा और कड़ाई के साथ पालन किया। इस प्रकार हमें कहीं भी उनकी कथनी और करनी के मध्य अन्तर नहीं दिखाई देता है। करिष्कारवत समीक्षा के क्षेत्र में शुक्ली का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वह नये युगक्त मी का स्थान बवधाता ही थे। आज के समीक्षकों के लिए उनका यह संदेश समझना चाहिए सिमीक्षा के प्रायः विकारको सब अंगों पर दृष्टि रखनी चाहिए। साहित्य की समीक्षा किसी एक कि साहित्य समीक्षक का नहीं हो जानी चाहिए।

हिन्दी आलोचना के विकास में में आचार्य वाजपेयी का योगदान आधुनिक हिन्दी आलोचना में शुक्ल जसे की आपद्धति और छायवाद की स्वच्छन्दतावादी आलोचना-पद्धति के सामंजस्य का श्रेय आचार्य की दुलारे वाजपेयी को है। उन्होंने हिन्दी आलोचना में इस सामंजस्य और सम्मिलन के द्वारा नवीन शक्ति का संचार किया, नई आलोचना-पद्धति को जन्म दिया। सन्तुलन और सामंजस्य को इस पृष्ठभूमि में यदि हम आचार्य वाजपेयी के हिन्दी- आलोचना के विकास में योगदान पर विचार कर पाता हमे उनकी निम्नलिखित उपलब्धियाँ दृष्टिगत होती हैं-

1. नवीन सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति की प्रतिष्ठा-रस-सिद्धान्त और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-दृष्टि का समन्वय कर वाजपेयी जी ने एक नई समीक्षा पद्धति को जन्म दिया जिसे सौष्ठववादी कहा जाता है और जिसमे काव्य के भाव-सौन्दर्य का, बिना किसी पूर्वाग्रह या सिद्धान्त की मर्यादा के, उद्धा

उद्घाटन किया जाता है। सौन्दर्य-बोध पर उनकी दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित है। उनकी सौष्ठववादी कला-दृष्टि में अनुभूति और अभिव्यक्ति का भी सामंजस्य है।

सौष्ठववादी समीक्षा-दृष्टि को स्थूल उपयोगिता को स्वीकार नहीं करती। इस प्रकार वाजपेयीजी ने हिन्दी आलोचना को शुक्ल जी की अतिनैतिकता से मुक्ति प्रदान की है। उनका निम्नलिखित वक्तव्य उल्लेखनीय है, "महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा-कदा अश्लीलता अश्लीलता सम्बन्धी रूप-आदशों का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्तिकाल में ऐसे हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल दृष्टि का ही हिमायती होता है।"

वाजपेयी जी साहित्य में भावना के उद्रेक, उच्छवास, परिष्कृति और प्रेरकता को समीक्षा के मुख्य मानदण्ड स्वीकार करते हैं। काव्यशास्त्र के तत्व भी गौण हैं, उनसे भी ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी समीक्षा का प्रधान उद्देश्य है। वाजपेयी जी की इस उपलब्धि के सम्बन्ध में डॉ. शिवसहाय पाठक का कथन दृष्टव्य है- "सांस्कृतिक, कलात्मक, सौन्दर्यवादी और अनुभूति-अभिव्यक्तिपरक मूल्यों का अत्यन्त सुष्ठ रूप पहली बार हिन्दी में वाजपेयी जी की समीक्षा में ही निखार पा सका है। उनकी स्वतन्त्र, वैज्ञानिक और सौन्दर्यमूलक व्याख्याओं का स्थायी मूल्य है।"

2. विशुद्ध साहित्य-भूमि पर वैज्ञानिक समीक्षा का सूत्रपात-वाजपेयी की इस सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि है विशुद्ध साहित्यभूमि पर वैज्ञानिक समीक्षा का सूत्रपात। वाजपेयी जी ऐसी ही शुद्ध, सच्ची आलोचना के पक्षपाती हैं, जिसका मानदण्ड विशुद्ध साहित्यिक हो। वाजपेयी जी ने अपनी समीक्षाओं द्वारा इसी प्रकृत-स्वरूप की प्रतिष्ठा की। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने ठीक ही लिखा है, "सम्प्रति हिन्दी में आलोचना बहुत हो रही है, पर है तो वह वाजपेयी विशुद्ध साहित्य-भूमि पर स्थित यदि कोई सच्चा आलोचक दिखाई देता है तो जी के अतिरिक्त अन्य नहीं है।"

3. छायावाद का समर्थ व्याख्यान-छायावाद के प्रथम समर्थ व्याख्याता के रूप में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का महत्व निर्विवाद है। डॉ नगेन्द्र ने स्वीकार किया है कि "हिन्दी का यह (वाजपेयी जी) पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भान्त होकर छायावाद[3:19 pm, 24/05/2024] Shagun Choudhary: के महत्व को स्वीकृत और प्रतिष्ठित किया।" वास्तव में हिन्दी आलोचना-जगत् में बाजपेयी जी छायावाद और उसकी काव्यशैली के समर्थ व्याख्याता और उन्नायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपने अभ्युत्थानकाल में छायावाद को बहुत संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष में वाजपेयी जी की भूमिका अन्यतम है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि वाजपेयी जी ने ही छायावाद को परीक्षा- समीक्षा के लिए सर्वप्रथम समीचीन और अपेक्षित प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की। डॉ वेकट शर्मा ने इसीलिए उन्हें 'सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावाद' का 'प्रवर्तक' कहा है। जिस समय आलोचको की समीक्षाओं में छायावाद के प्रति आक्रोश का स्वर ही प्रधान था, वाजपेयी जी ने पहलो बार छायावाद के गौरव का व्याख्यान किया। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारे इस कथन का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं-

"प्रसाद, निराला और पन्त जैसे महान् कवियों की एक साथ अवतारणा किसी भी साहित्य के इतिहास में कोई साधारण घटना नहीं है उन्मुक्ति की आकांक्षा, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान तथा विश्व के समस्त जन-समाज को एकान्वित करने वाली मानवतावादी भूमका यहाँ विद्यमान है।"

4. सम्पूर्ण अर्थ में युग-सापेक्ष्य समीक्षा का जन्म वाजपेयी जी को बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप, अर्थात् सम्पूर्णतः युग-सापेक्ष्य, परन्तु शाश्वत, समीक्षा मूल्यों के जन्म का श्रेयदिया जा सकता है। "नवीनता के अग्रगामी युग में नव्यतर साहित्यिक कृतियों को नये ही माप और बाटों को तोलने का कार्य, उन कृतियों के साथ उत्पन्न होने वाले तरुण पारखियो द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उन तरुण पारखियों में पं. नंददुलारे वाजपेयी का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है।" (डॉ विनयमोहन शर्मा) वाजपेयी जी की इस उपलब्धि से ही छायावादी काव्य को सही समीक्षक मिला।

5. सन्तुलन और सामंजस्य-स्थापन-समीक्षा के सभी क्षेत्रों में सन्तुलन और सामंजस्य- स्थापना का महत्वपूर्ण कार्य वाजपेयी जी ने किया। उन्होंने सब प्रकार के अतिवादों का विरोध किया। इसीलिए कभी-कभी लोगों को वाजपेयी जी के सिद्धान्तों में विरोध लक्षित होता है। पर वास्तव में ऐसा है नहीं। उनकी मूल दृष्टि सामंजस्य विधायिनी है। इसीलिए उन्होंने कलावाद का विरोध भी किया है और उपयोगितावाद का भी। व्यक्ति-चिन्तन और लोकमंगल-दोनों का, फिर भी, उन्होंने आत्यन्तिक विरोध नहीं किया, बल्कि उनमें समन्वय स्थापित किया।

वाजपेयीजी की समीक्षाओं को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि उन्होंने किसी कवि तथा लेखक के भावात्मक पक्ष को अधिक देखा है, तो किसी के अभावात्मक पक्ष को। यह प्रवृत्ति पक्षपात नहीं है, लेखकों की स्थिति में सामंजस्य स्थापना का प्रयत्न है। स्वयं वाजपेयी जी ने कहा है-

"किसी निबन्ध में किसी लेखक पर प्रशंसात्मक चर्चा की गई है और किसी अन्य पर विरोधी ढंग से लिखा गया है। जिनकी आवश्यकता से अधिक उपेक्षा हो रही थी उनकी प्रशंसा की गई है और जिनकी बेहद प्रशंसा हो रही थी उनके सम्बन्ध में दूसरे पक्ष को सामने रक्खा गया है। उसमें मेरा लक्ष्य लेखकों को स्थिति में सामंजस्य स्थापित करने का है।"

6. भारतीय रस-सिद्धान्त की व्यापकता की प्रतिष्ठा वाजपेयी जी ने रस पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया है और रस को मूलभूत वस्तु मानते हुए भी, उसके ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व अथवा अलौकिकता को स्वीकार नहीं किया है। रस को वे सौन्दर्यसंवेदन या आह्लादकारिणी सत्ता के रूप में लेते हैं। इस प्रकार रस की एक व्यापक मानवतावादी भूमि पर प्रतिष्ठा वाजपेयी जी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। डॉ शिवसहाय पाठक के शब्दों में, "उन्होंने रस-सिद्धान्त को राष्ट्रीय संवेदन से सम्बद्ध करके उसे एक व्यापक एवं प्रौढ़ आधार दिया है। साथ ही

1. आलोचना की नूतन और वैज्ञानिक दृष्टि-आचार्य द्विवेजीजी ने जिस नवीन और वैज्ञानिक दृष्टि को अपनी समीक्षा के लिए अपनाया है वह ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति है। इस आलोचना पद्धति से पूर्व आलोचना जगत् में शुक्ल जी का लोकादर्शवाद और वाजपेयी जी का छायावादी दृष्टिकोण प्रचलित था। द्विवेदी जी ने इस नई आलोचना प्रक्रिया से अपना नया और महत्वपूर्ण स्थान बनाया। यह वह आलोचना शैली है जो साहित्य को अपने आप में स्वतन्त्र मानकर नहीं चलती है, अपितु उसे संस्कृति की जीवन-धारा का महत्वपूर्ण अंग मानती है।

2. साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या-आचार्य द्विवेदी जी ने साहित्य के इतिहास को संकुचित और सीमित अर्थ में ग्रहण नहीं किया है, अपितु उसे सामाजिक सांस्कृतिक जीवन धारा का प्रवाह माना है। उन्होंने साहित्य को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखा है और उसी आधार पर उसका ऐतिहासिक वृत्त प्रस्तुत करके आलोचना जगत को नई भेंट प्रदान की है। 3. हिन्दी साहित्य का पुनर्निर्माण और पुनर्मूल्यांकन- हिन्दी आलोचना जगत में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का महत्वपूर्ण स्थान इस कारण भी स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्निर्माण और पुनर्मूल्यांकन भी किया है। द्विवेदीजी ने शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित युगों और कवियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किया है। "द्विवेदी जी ने इतिहास का अध्ययन मनुष्य जीवन के अखण्ड प्रवाह के अध्ययन के अंग के रूप में किया है और अपभ्रंश काल एवं वीर गाथा काल की अनेक उपेक्षित परिस्थितियों का उद्घाटन किया है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने इन्हीं साहित्य के इतिहास का पुनर्निर्माण का कार्य सफलतापूर्वक किया है।"

4. पाण्डित्य, गहन अध्ययन और शोध-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी संस्कृत साहित्य के गहन अध्येता और पाण्डित्यपूर्ण विचारक है। उन्होने अपनी विस्तृत ज्ञानराशि और गहन अध्ययनशीलता के सहारे हिन्दी आलोचना को अनेक नई दिशा, दृष्टियाँ प्रदान की। इससे उसका मूल्य हिन्दी आलोचना जगत में और भी बढ़ गया। डॉ शम्भूनाथसिंह ने लिखा है, "हिन्दी साहित्य का आदिकाल में उन्होंने हिन्दी काव्य रूपों का सूत्र प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य रूपों में खोजा है, साथ ही विभिन्न प्रान्तो के साहित्य का हिन्दी साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़कर काव्य रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया है.... ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य रचना करने की प्रथा के सम्बन्ध में उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में नये ढंग से विचार किया है जिससे 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता के उल्लास भरे प्रश्न का बहुत कुछ समाधान हो जाता है।"

5. इतिहास और आलोचना का समन्वय-साहित्य का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य सदैव द्विवेदी जी के अध्ययन, विश्लेषण और आकर्षण का केन्द्र रहा है। उन्होंने इतिहास के जीवन तत्वों की पृष्ठिका पर आलोचना लिखी है। इससे साहित्य समीक्षा की नई दिशाएँ खुली है। 'साहित्य का मर्म' और 'साहित्य का साथी' जैसी कृतियों में इतिहास और आलोचना का समीकृत रूप मिलता है। इतिहास और साहित्यालोचन द्विवेदी जी के यहाँ नीर क्षीरवत् मिले हुए प्रतीत होते है।

6. रसग्राहिता-रसग्राहिता आचार्य द्विवेदी जी की आलोचना की महत्वपूर्ण विशेषता है। यह वह शक्ति है जो पाठक, अध्येता और अध्यापक का मन बांधे रखती है। कबर, सूरदास, देखा कालिदास और अपभ्रंश साहित्य पर लिखी गई समीक्षाओ मे रसग्राहिता की शक्ति को दे जा सकता है। डॉ. विश्वनाथ तिवारी ने ठीक ही लिखा है कि "कवि की अभिव्यक्ति तक पाठक को ऐसे भाव पथ के द्वारा पहुंचा देना कि उसे पता ही न चलने पाये कि वह लेखक को नहीं कवि को पढ़ा रहा है। द्विवेदी जी की आलोचना और गद्य शैली की विशेषता है।" समीक्षा क्षेत्र में व्यापक अराजकता के अल्पीकरण के लिए एक सशक्त मानदण्ड भी प्रस्तुत किया है।"

7. स्वस्थ, बाद-निरपेक्ष दृष्टि-आचार्य वाजपेयी रस के रूप में 'आह्लादमूलक तीव्र मार्मिक अनुभूति और उसकी कलापूर्ण अभिव्यक्ति को काव्य-समीक्षा का निरापद आधार मानकर एक स्वस्थ और वाद-निरपेक्ष दृष्टि का परिचय देते हैं। सौन्दर्य-दृष्टि और सिद्धान्त निरपेक्षता जो सौष्ठववादी समीक्षा की मूलभूत आवश्यकताएं हैं के साथ-साथ वे वाद-निरपेक्षता का भी समर्थन करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है- "वाद-पद्धति पर चलने का

नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना दलबन्दी फैलना और साहित्य को निष्पक्ष माप की क्षति पहुँचाना ही हो सकता है। समीक्षक के व्यक्तिगत तटस्थता की भी वाजपेयी जी ने प्रबल आवश्यकता बताई है। यहीं वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रुढ़िवादिता का भी विरोध करते हैं।

8. आलोचक की निर्भीकता और साहस का निर्वाह-समीक्षा क्षेत्र में वाजपेयौं जी की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि तटस्थता, निर्भीकता और साहस का निर्वाह है। डॉ. नगेन्द्र ने कहा है- 'वर्तमान हिन्दी के कम आलोचकों ने अपनी प्रतिभा का इतना साहसपूर्ण परिचय दिया है। वस्तुतः यदि वाजपेयी जी में साहस और प्रतिभा का मणि-कांचन सहज संयोग न होता, तो वे शुक्ल जी का इतना दृढ़ विरोध न कर पाते और नवोदित छायावादी काव्य को वह बौद्धिक अवलब न दे पाते, जो उन्होंने दिया।"

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचन से हिन्दी आलोचना के विकास में वाजपेयी जी ने महत्वपूर्ण योगदान का सच्चा और सही चित्र हमारे सामने आ जाता है। शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा में वाजपेयी जी का स्थान निर्विवाद रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छायवाद का इतना समर्थ व्याख्याता, समीक्षा में इतनी विशुद्ध साहित्यिक भाव-भूमि का प्रतिष्ठाता और सामंजस्यपूर्ण, नई उदार वैज्ञानिक सौष्ठववादी समीक्षा का पुरस्कर्ता और उन्नायक आलोचक वाजपेयी जी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।"

- हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य द्विवेदी का योगदान

उत्तर हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद जी का महत्वपूर्ण स्थान है। आज तो आलोचना जगत में अनेक मतवाद, अनेक समीक्षा पद्धतियाँ और अनेक मान्यताएँ उभर कर सामने आई हैं, किन्तु उन सभी से परिचित होकर भी हजारीप्रसाद जी आज अपनी सन्तुलित गम्भीर-वैचारिक और पाण्डित्यपूर्ण आलोचना शैली के लिए विख्यात है। आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी जी के बाद हिन्दी आलोचना को समृद्ध और पुष्ट करने में द्विवेदी का विशेष योगदान रहा है। इसी योगदान के कारण उनका स्थान आज साहित्यालोचना में महत्वपूर्ण और अपरिहार्य बन गया है। उन्होंने जो योगदान दिया है वही आलोचना जगत में उनके स्थान को स्पष्ट और मूल्यांकित करता है। उनकी आलोचना पद्धति विशिष्ट और मौलिक है। उसकी उपलब्धियाँ भी विशेष उल्लेखनीय हैं। साहित्य समीक्षा की नवीन और वैज्ञानिक दृष्टि, साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या इतिहास और समीक्षा के समन्वय और मध्यकालीन धार्मिक साहित्य की गौरव प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना और पाण्डित्यपूर्ण शैली और गम्भीर शोषक की दृष्टि के कारण आचार्य द्विवेदी जी का स्थान हिन्दी आलोचना जगत में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। अतः हिन्दी आलोचना के जगत में उनके स्थान का मूल्यांकन इन्हीं बिन्दुओ के आधार पर किया जा रहा है या किया जाना चाहिए।

प्रेमचन्द की विशेषता बतलाते हुए जो कुछ द्विवेदी जी ने लिखा है उसमें उनकी रसग्राहिता शक्ति को देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, कोई भी जिज्ञासु, मानवती बहू को कोठे पर बैठी वार- विलासिनी को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगे को कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को. ईर्ष्यापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बल के हृदय बैंकरों को, साहसी चमारों को, ढोंगी पण्डितों को फरेबी पटवारी को और नीचाशम अमीर को देख सकता है और निश्चित होकर विश्वास कर सकता है कि जो कुछ उसने देखा है वह गलत नहीं है। इससे अधिक सच्चाई के साथ दिखा सकने वाली परिदर्शक को हिन्दी और ऊर्दू की दुनियाँ नहीं जानती है। यह उदाहरण द्विवेदी जी की रसग्राही क्षमता को प्रमाणित करता है।

7. धार्मिक-साहित्य की गौरव प्रतिष्ठा-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी अपनी आलोचना में पूरी तरह तार्किक और विश्लेषक नहीं रहे हैं। उन्होंने नीति, धर्म, संस्कृति और आनन्द सभी से भरकर आलोचनाएँ लिखी हैं। यह उनकी आलोचना की उपलब्धि है। वे धार्मिक काव्य को मात्र धार्मिक होने से काव्य क्षेत्र से बाहर की वस्तु नहीं मानते हैं। धर्मानुमोदित साहित्य को शाश्वत बताकर गौरव प्रदान किया है। इससे वे अन्य आलोचकों से अलग-थलग है।

8. सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठा-आचार्य द्विवेदी जी की आलोचनात्मक कृतियाँ गवाह हैं कि वे साहित्य को संस्कृति का और मानवीय दृष्टिकोण का अभिव्यंजन मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने साहित्य और संस्कृति की एकात्मिष्ठा की प्रतिष्ठा की है। जो कुछ भी संस्कृति महत्व से मण्डित है उसको उन्होंने श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में स्वीकार किया है। डॉ. देवराज ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि, "द्विवेदी जी मुख्यतः एक पण्डित है, एक महापण्डित या स्कॉलर, जिनका प्रमुख क्षेत्र सांस्कृतिक इतिहास है। साथ ही उसके व्यक्तित्व में मानववादी जीवन दृष्टि का आवेगात्मक आकलन भी है।"

9. प्रगतिशील दृष्टिकोण आचार्य द्विवेदी जी का दृष्टिकोण प्रगतिशीलता से भी युक्त है। डॉ विश्वनाथ तिवारी ने ठीक ही लिखा है कि, "मनुष्य की जययात्रा और गंगा के समान अवाधित अनाहत धारा वाली मनुष्य की दुर्दम निजीविषा में विश्वास रखने वाला चिन्तक प्रगतिशीलता में ही विश्वास

रखेगा। यही कारण है कि द्विवेदी जी की गणना प्रगतिशील आलोचकों में भी की जा सकती है। अपनी मानवतावादी और प्रगतिशील दृष्टि के कारण ही वे प्रेमचन्द जी साहित्यगत महानता को समझ सके हैं।"

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचनोपरान्त यह कह सकते हैं कि हिन्दी आलोचना में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का स्थान उपर्युक्त कारणों से विशेषोल्लेख है। उनकी आलोचना में अनेक मौलिकताएँ तो हैं ही वह है भी तो सांस्कृतिक और मानवीय विश्वासों से प्रेरित और पुष्ट यही दृष्टि उन्हें हिन्दी आलोचना में शीर्ष स्थानीय प्रमाणित करती है।

हिन्दी आलोचना के विकास में नगेन्द्रजी का योगदान

संश्लिष्ट काव्यशास्त्र की प्रतिष्ठा हिन्दी के लिए डॉ नगेन्द्र की सबसे बड़ी देन है। इस कार्य में सहायक उनके समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध हिन्दी साहित्य की अक्षय सम्पत्ति है। समीक्षा के क्षेत्र में डॉ नगेन्द्र ने वस्तुत आचार्य शुक्ल के अधूरे कार्य को पूरा किया है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में डॉ नगेन्द्र की उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं-

1. रस-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा-डॉ नगेन्द्र ने रस को सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करके आचार्य शुक्ल के स्वप्न को साकार किया है। यह कार्य आपने तीन प्रकार से किया है-

(क) रस के स्वरूप की वैज्ञानितक व्याख्या द्वारा,

(ख) साधारणीकरण की मौलिक विवेचना द्वारा,

(ग) रस-सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेपों के निराकरण द्वारा।

2. संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का उन्नयन नगेन्द्र ने सर्वप्रथम रस-सिद्धान्त की व्याख्या में आधुनिक मनोविज्ञान को अपेक्षित महत्व दिया है और कुछ दूर तक रसावाद का मनोवैज्ञानिक अर्थापन भी किया है। इस प्रकार आधुनिक काव्यालोचन की सिद्धान्त संहिता को गढ़ने में इनका उल्लेखनीय योग है। आपने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सामंजस्य द्वारा काव्यशास्त्र को दो संश्लिष्ट एवं परिपूर्ण रूप प्रदान किया है। एक ओर ती यह अपनी आनन्द पर्यवसायिनी रस-निष्ठा के कारण भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त प्रभृति प्राचीन-आचार्यों द्वारा प्रभावित है- दूसरी ओर वह रिचर्ड्स, क्रोचे, फायड आदि पाश्चात्य विचारकों से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। उन्होंने इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान का मार्ग प्रशस्त किया है। अतः डॉ विमल कुमार ने ठीक ही लिखा है कि, "यह कहना केवल सत्य को स्वीकार करना है कि ज्ञान-विस्तार और युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप हिन्दी साहित्य में जिस नवीन संश्लिष्ट-काव्यशास्त्र का उदय हुआ है, उसे विकास देने वाले मनीषियों की पंक्ति में आचार्य शुक्ल के बाद डॉ. नगेन्द्र ही दूसरे गौरव-शिखर है।"

3. छायावाद की काव्यशास्त्रीय व्याख्या- "छायावाद के मूल्यांकन को उचित दिक्षा देने वाले आलोचकों में नंददुलारे वाजपेयी की तरह इनका भी महत्वपूर्ण स्थान है।" 'सुमित्रानंदन पंत' और 'कामायनी के अध्ययन्न की समस्याएँ' इनकी इस क्षेत्र से सम्बन्धित आलोचना कृतियाँ हैं। रसवादी प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावादी विचार धारा, वैयक्तिक चेतना के प्रति निष्ठा, काव्य-प्रेरणा के रूप में काम-वृत्ति की स्वीकृति आदि मान्यताओं के फलस्वरूप छायावाद के मूल्यांकन में डॉ नगेन्द्र विशेष सफल हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' लिखकर छायावाद के जिस नये 'ऊँट' को बिठा दिया था, डॉ नगेन्द्र ने उसी को एक बार फिर अपने पैरों पर खड़ा किया है।

4. पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का रसपरक उपयोग-डॉ नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार तो किया, किन्तु केवल साहित्यिक मत के सहयोग रूप में-आत्यान्तिक रूप में नहीं। इससे रस-सिद्धान्त को एक नई दीप्ति प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में डॉ रामधार शर्मा का कथन बहुत ही उपयुक्त है-"नगेन्द्रजी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने रस-सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक आधार का, उसकी मूलभूत प्रेरणाओं का, सम्यक् उद्घाटन किया और रस-मत को मनोविज्ञान की विशेष भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। साहित्य की सृजन- प्रक्रिया को, उसके वैयक्तिक पक्ष को नगेन्द्रजी ने विशेष रूप से उद्घाटित किया है। अपने मनोवैज्ञानिक विवेचनों में उन्होंने अधिकतर समन्वय का ही प्रयत्न किया है।"

5. शोधतन्त्र विषयक सैद्धान्तिक आलोचना-डॉ नगेन्द्र शोध और आलोचना को अभिन्न मानते हैं। यथा-आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाता की कल्पना नहीं कर सकता।" उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसंधान का ही उत्कृष्ट रूप है।" इस शोध और आलोचना के नित्य सम्बन्ध की व्याख्या करके अपने शोधतन्त्र विषयक सैद्धान्तिक चिन्तन को जन्म दिया है। आप वस्तुतः शोध-तन्त्र विषयक सैद्धान्तिक आलोचना के पुरस्कर्त्ता हैं। आपकी यह देन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

6. मौलिक-चिन्तन-आलोचना और साहित्य-सर्जना दोनों के मूल में आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी आलोचना को रुढ़ि के बन्धनों में मुक्त किया है और प्रत्येक कवि और उसकी कृति के मौलिक व्याख्यान का मार्ग प्रशस्त किया है।

निष्कर्ष- इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ नगेन्द्र शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा के गौरव शिखर हैं और उसे तत्वनिष्ठ आचार्यत्व से मण्डित करने वाले विचारकों में अग्रगण्य हैं।

5.7 महत्वपूर्ण प्रश्न

साहित्य की परिभाषा दीजिये।

साहित्य को विशिष्ट एवं व्यापक अर्थ में परिभाषित किया गया है। साहित्य मनोवृत्तियों को तृप्त करता है। उसमे साइव हित साधन की मधुर भावना है। भारतीय साहित्य की मुख्य तीन विशेषताएँ है-

1 हित साधन करना।

2. मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना।

3 मानव-मनोवृत्तियों को उन्नत करना।

विद्वानों ने साहित्य की कुछ परिभाषाएँ की हैं। हम यहाँ उनका विवेचन करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार ये सब परिभाषाएँ इन्हीं तीन विशेषताओं के अन्तर्गत हैं।

हित साधन

1 हितं पिहितं तत् साहित्यम्।

2 हितं सन्निहितं तत् साहित्यम् ।

3 हितं सम्पादयति इति साहित्यम्।

4. 'सहितं रसेन युक्तम्' तस्य भावः साहित्यम् ।

5 हितेन निरतिशय प्रेमास्पदेन इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विशेषण सहितं साहित्यम्।

6. सम्यक् निहितं सध्द्रिः तत् सहितं तस्य भावः साहित्यम् ।

7 अवहित मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम् ।

8. प्रहित परमेश्वरेण इति साहित्यम् तस्य भावः साहित्यम् ।

साथ ही शब्दाथों सहितो साहित्यः ।

ज्ञान राशि के संचित कोष को साहित्य कहते हैं।

साहित्य समाज का दर्पण है।

काव्य प्रयोजन क्या है?

उत्तर- संस्कृताचार्यों के अनुरूप हिन्दी के रीतिकालीन और आधुनिककालीन आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख किया है। रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृताचार्यों के मतों को हो दोहरा दिया है। इनमें मौलिकता का पूर्णरूपेण अभाव है। रीतिकालीन आचार्य कुलपति ने काव्य के 6 प्रयोजन माने हैं- यश, सम्पत्ति (धन), अलौकिक आनन्द, दुःखों का नाश, लौकिक

चातुर्य और कान्ता-सम्मित उपदेश । "जस सम्पत्ति, आनन्द अति, दुखिन डारै खोई।

होत कवित ते चतुराई जगत बाम बस होई।" आचार्य देव ने केवल यश को ही काव्य का प्रयोजन माना है-

ऊँच-नीच तरु कर्म बस, चलो जात संसार।

रहत्त भव्य भगवंत-रस, नव्य काव्य सुख-सार।। आचार्य सोमनाथ ने कीर्ति, जि, मनोरंजन, मंगल और उचित उपदेश से पाँच काव्य

प्रयोजन माने हैं, तो आचार्य भिखारीदास ने तप-पुंजों का फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति) सम्पत्ति, यश और आनन्द इन चार काव्य-प्रयोजनों का समर्थन किया है।

। हिन्दी के आधुनिककालीन आचार्यों ने संस्कृताचायों का अंधानुकरण नहीं किया है। युग की बदलती हुई मान्यताओं के अनुरूप उन्होंने अपने-अपने ढंग से काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख किया है। आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने 'ज्ञान विस्तार' और मनोरंजन को काव्य का प्रयोजन माना है।

श्रीधर पाठक ने 'लोक मंगल' और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ज्ञान और आनन्द को काव्य-प्रयोजनों की श्रेणी में रखा है। राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त ने मनोरंजन और उपदेश को प्रधान माना है।

"केवल मनोरंजन कवि का, कर्म होना चाहिए। उसमें उचित उपदेश का भी, मर्म होना चाहिए।'

जयशंकर प्रसाद ने मनोरंजन और शिक्षा, पंत ने स्वान्त सुख और लोकहित, महादेवी वर्मा ने 'मानव-हृदय में समाज के लिए अनुकूलता' उत्पन्न करना, काव्य का प्रयोजन कहा है। भक्तिकाल के कवि तुलसी ने 'स्वतं सुखाय रघुनाथ गाथा' कहकर 'स्वान्तः सुखाय' को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हृदय की मुक्तावस्था की प्राप्ति', आचार्य हजारी प्रसाद

द्विवेदी ने 'मानस-हित', डॉ. नगेन्द्र ने 'आत्माभिव्यक्ति' आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आत्मानुभूति' और गुलाबराय ने 'आत्महित' काव्य प्रयोजन माना है। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन "पत्थर हृदयों को मानव बनाना, देवों को अति यथार्थ कठोर भूमिका से उठाकर मानवता को सरसमयी भूमि पर प्रतिष्ठित करना है।" इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल में आलोचकों ने काव्य-प्रयोजनों पर नवीन रूप से प्रकाश डाला है। अतः पर्याप्त मौलिकता विद्यमान है।

काव्य की आत्मा क्या है?

उत्तर- उत्कृष्टता या उदात्तता काव्य की आत्मा है। विभिन्न सम्प्रदायों में विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से सम्भव हो सकती है-

1 धर्म से। 2 व्यापार से। 3. व्यंग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं- नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं रहती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्टय प्रतिपादन करने वाले सम्प्रदाय हुए (1) अलंकार सम्प्रदाय, (2) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्टय भी दो प्रकार का है-वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। वे वक्रोक्ति सम्प्रदाय के समर्थक हैं-व्यंग्यात्मक रूप ग्रहण करने वाले आनन्दवर्धन हैं।

रस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्यों के नाम लिखिये।

उत्तर- इस सिद्धान्त के आचार्य हैं भरत मुनि, जो प्रमुख है- अन्य आचार्य और रस-सिद्धान्त अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्धित आचार्यों ने भी इसकी पर्याप्त चर्चा की है। इसमें प्रमुख हैं-

1 अलंकारवादी आचार्य- भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट।

2 रीतिवादी आचार्य-वामन।

3 वक्रोक्तिवादी आचार्य-कुन्तक।

4 अनुमानवादी आचार्य-महिम भट्ट।

5 ध्वनिवादी आचार्य-आनन्दवर्द्धन और मम्मट ।

6. अन्य आचार्य- (प्रमुख) धनंजय, महिमभट्ट, भोज, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदानतनय, भानुदत्त, आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, रूप गोस्वामी, क्षेमेन्द्र। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में भी इसका उल्लेख है।

डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा' के अनुसार रस-मीमांसा की भरतोत्तर दृष्टि विचार-क्रम से भिन्न थी। यहाँ उन्हीं के आधार पर निम्नलिखित आचार्यों की दृष्टि का अति संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

हिन्दी के आचार्यों में-1 रीतिकालीन, 2 आधुनिककाल के आचार्य। रीतिकालीन आचार्यों में- केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, भिखारी, ग्वाल है। आधुनिक कालीन आचार्य हैं-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त के अनुसार साधारणीकरण की परिभाषा लिखिये।

उत्तर- साधारणीकरण से तात्पर्य है- सम्बन्ध विशेष का त्याग करके सामान्य रूप अथवा स्थिति को प्राप्त करना। जब व्यक्ति अपनी पृथक सत्ता को भूलकर अपनी लाभ-हानि की भावना का परित्याग करके, मानवमात्र की सुख-दुःख की अनुभूति में लीन हो जाता है, तब यह स्थिति साधारणीकरण कहलाती है। इस स्थिति में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है तथा असाधारण भी साधारण बन जाता है। इतना ही नहीं व्यक्ति काल तथा स्थान तक की सीमा अतिक्रमण कर जाता है। दूसरे शब्दों में लोक हृदय में लीन ही साधारणीकरण है।

अलंकार की परिभाषा दीजिये ।

उत्तर- अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-अलम कृ घंज। इसका अर्थ है। आभूषण। वैयाकरण इसको समझाते हुए कहते हैं- 'अलंकारोतीति अलंकार' अर्थात् वह जो सुशोभित करता है, अलंकार है। इसी कर्मवाच्य में इस प्रकार कहा गया है 'अलंक्रियते नेनेत्यलंकार' अर्थात् वह जिसके द्वारा शोभा होती है अलंकार कहलाता है। विद्वानों ने अलंकार शब्द की व्याख्या एक और प्रकार से भी की है। यह वह है, जिसके कारण दृष्टा या पाठक 'अलं-अलं' अर्थात् 'बस-बस' करने लगता है। मन की यह अवस्था हर्षोल्लास के कारण होती है। भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ की वक्रोक्ति ही वाणी का अलंकार है।'

रीति की परिभाषा दीजिये।

उत्तर- रीति शब्द की उत्पत्ति 'रीड्' धातु से ऋतु प्रत्यय के मेल से हुई है। इसका अर्थ है-मार्ग, पन्थ या गति। काव्यशास्त्र में रीति का प्रयोग काव्य रचना की सामान्य पद्धति अथवा शैली के अर्थ में और संस्कृत के एक विशेष सम्प्रदाय के अर्थ में हुआ है। इस सम्प्रदाय की स्थापना आचार्य वामन ने नवीं शती में की थी। रीति शब्द की उत्पत्ति पर महाराज भोज ने अपने प्रन्ध सरस्वतीकण्ठाभरण में प्रकाश डालते हुए लिखा है-

वर्देभादिकृत्तः पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।

रोड गतावित धातोः सा व्यत्पत्या रीतिरुच्यते ।

हमारा वर्ण्य-विषय संस्कृत साहित्य के इसी रीति-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करता है।

रीति-परम्परा

'रीति' को एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का गौरव आचार्य वामन को प्राप्त होता है। वामन से पहले अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य काव्य में अलंकार की महत्ता का विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। अलंकार के विवेचन से काव्य प्राण-तत्व की स्पष्ट तथा स्वच्छ व्याख्या नहीं हो पायी थी। इस प्रकार में स्वयं अलंकारवादियों में विवाद तथा मतभेद दिखाई देता है। अलंकार सिद्धान्त के विकास के पश्चात् ही रीति-सिद्धान्त की स्थापना हुई। रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है-

'रोतिरात्मा काव्यस्य य।' ।'

इस प्रकार रीति को काव्य की आत्मा के रूप में सर्वप्रथम वामन ने स्वीकारा।

शैली का परिचय दीजिये।

उत्तर- यदि हम शैली की व्युत्पत्ति पर विचार करें तो देखते हैं कि शैली शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने इस प्रकार मानी है-शील ष्यंज् डीप्। 'शैली का अर्थ है-स्वभाव, आदत, आचरण, अतएव 'शैली' का अर्थ है-लिखने का ढंग, परिपाटी, आचरण।' 'मनुस्मृति' पर कुल्लूक भट्ट का टीका में। 'शैली' शब्द का प्रयोग प्रणाली या पद्धति के अर्थ में हुआ है। "प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् समासेन अभिधाय विशेषण विदृणोति ।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है 'शैली' अभिव्यक्ति का प्रकार है, जिसका कथन विद्वानों ने अनेक रूपक से किया है, उसकी अनेकविध परिभाषाएँ दी हैं। मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार-भावों की कुशल अभिव्यक्ति शैली है।

दोष पर टिप्पणी लिखिये-

उत्तर- दोष-जो गुणों और अलंकारों को हीन बनाते हैं, उनकी भी व्याख्या वामन ने प्रस्तुत की है। भरतमुनि ने दोषों की संख्या दस निर्धारित की थी- 1 गूढ़ार्थ, 2. अर्थान्तर, 3. अर्थहीन, 4. भिन्नार्थ, 5. एकार्थ, 6. अभिलुप्तार्थ, 7 न्यायादपेत, 8. विषम, 9. विसन्धि और 10. शब्दहीन। आचार्य भामह ने इनकी संख्या 21 कर दी, पर दण्डी ने दस ही स्वीकार की। वामन ने दोषों को चार भागों में विभक्त कर दिया-पद- दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ दोष। इसके अन्तर इनके उपभेद किए। इस तरह उनकी संख्या बीस तक पहुँच गई। वे दोषों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

1 पद-दोष-1 असाधु (व्याकरण-च्युत), 2. कष्ट (कर्ण-कटु), 3 ग्राम्य, 4. अप्रतीत (अप्रचलित शब्द और 5 अनर्थक (निरर्थक शब्द)।

2 पदार्थ-दोष-1. अन्यार्थ (भिन्न अर्थ में प्रयुक्त शब्द), 2 नेयार्थ (कल्पना से अर्थ प्राप्ति), 3. गूढ़ार्थ (अप्रसिद्ध अर्थ), 4. अश्लील और 5 विसंधि।

3 वाक्य-दोष-1 भिन्न-वृत्ति, 2. मति भ्रष्ट और 3. क्लिष्ट।

4 वाक्यार्थ-दोष-1 व्यर्थ (पूर्वापर विरोधी), 2 एकार्थ (एक अर्थ की आवृत्ति) 3 संदिग्ध, 4 अप्रयुक्त. 5 अपक्रम, 6 आलोक (देशकाल एवं प्रवृत्ति के विरुद्ध अर्थ) और 7 विद्या-विरुद्ध (कला, शास्त्र, सिद्धान्त विरुद्ध) ।

रस निष्पत्ति से आप क्या समझते हैं? रस के कतिपय अंग कौन-कौन से हैं?

उत्तर- रस की निष्पत्ति- जो 'आनंद' दर्शक को नाटक के आकर्षक दृश्य में देखने और सुनने से सहज प्राप्त हो जाता है और वह थोड़े ही समय में उसका प्रभाव से मंत्र-मुग्ध सा हो आनंद से झूमने लगता है, यदि दृश्य करुणापुरति है, तो दर्शक का हृदय करुणा से भरकर एकदम उसकी आँखों से अविरल अश्रु की धारा बहा देता है। । यह मानव हृदय की सहज प्रवृत्ति है कि वह रस-विशेष से सहज ही आप्लावित होकर उसके अनुकुल प्रभावित होने लगता है। उसकी यह आनंदानुभूति ही रस-प्रक्रिया कहलाती है और रस का यह प्रस्फुटन ही रस निष्पत्ति है।

काव्य अथवा नाट्यशास्त्र के अनुसार, शास्त्रीय रीति से रस सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले प्रथम आचार्य भरत मुनि थे, जिन्होंने रस की निष्पत्ति के संबंध में बहुत ही व्यवस्थित ढंग से यह बात कही है- 'विभावानुभाव, व्याभिचारी संयोग रस निष्पत्ति' अर्थात विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की सिद्धि होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वसुंधरा के हृदय-प्रदेश में व्याप्त मिट्टी में गंध पहले से ही विद्यमान रहती है किन्तु वर्षा की बूंदे उसे सहज जाग्रत कर देती है और सौंधी सुगंध समस्त वायुमंडल में भर जाती है, उसी प्रकार से हृदय में व्याप्त सभी प्रकार के स्थायी भाव आलंबन का आश्रय पाकर जाग उठते है। रस निष्पत्ति में हृदय के सुप्त स्थायी भावों का विभावों द्वारा उद्दीप्त अनुभावों से पोषित तथा संचारियों से उद्बुद्ध होकर सहज फुट निकलना यह इतनी सहज, स्वभाविक और शीघ्र प्रभावमयी प्रक्रिया है कि प्रायः सभी को वह आश्चर्य में डाल देती है।

अतः यह कहना प्रायः कठिन है कि रस की निष्पत्ति कब और कैसे होगा ? यह सब तत्कालीन पात्र, परिस्थिति और वातावरण आदि के रुप में आलम्बन और उद्दीपन पर निर्भर करता है और जो विभाव के रूप मे पात्र के हृदय में सुप्त स्थायी भावों को जाग्रत करता है और फिर अनुभव उन्हें पोषित कर संचारियों के साथ उद्बद्ध करा देता है। इस प्रकार हम देखते है कि रस निष्पत्ति के प्रमुख अंग है।

रस निष्पत्ति के अंग

(1) स्थायी भाव, (2) विभाव, (3) अनुभाव एवं (4) संचारी भाव।

वक्रोक्ति की परिभाषा लिखिये।

उत्तर- वक्रोक्ति शब्द का संधि-विच्छेद करने पर वक्र उक्ति टेढ़ा अथवा अस्वाभाविक कथन प्रतीत होता है व्यवहार में वक्रोक्ति तभी से रही प्रतीत होती है, जब मनुष्य ने भाषा का व्यवहार पूर्ण रूप से सीख लिया था। आज भी श्रोता को चमत्कृत करने के लिए लोग अस्वाभाविक वक्र अथवा टेढ़े कथनों का आश्रय लेते हैं। संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति शब्द वाकछल क्रीड़ा- कलाप अथवा हास-परिहास अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। इससे पूर्व भी इसकी चर्चा हो चुकी है।

वक्रोक्ति का स्वरूप लिखिये।

उत्तर- वक्रोक्ति का स्वरूप-वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्यशास्त्र का प्रौढ़-चिन्तन है, जिसके प्रणेता आचार्य क्लन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवितम्' नामक ग्रंथ में इस पर विचार किया।

उनके अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। उन्होंने इसे अत्यन्त व्यापक महत्व दिया और काव्य के सभी तत्वों एवं भेदों में इसे स्वीकार किया। उनके अनुसार वक्रोक्ति वैदग्ध्ङ्गीभणिति या चतुर कवि-कर्म का कुशलता से कथन है। इसे वे शब्द एवं अर्थ के सौन्दर्य की समष्टि मानते हैं। उनके अनुसार काव्य के चमत्कार-भूत तत्व का नाम वक्रोक्ति है। शब्द और अर्थ अलंकार्य है और वक्रोक्ति उनका अलंकार है। वह प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की उक्ति या कथन है।

वक्रोक्ति के भेद लिखिये।

उत्तर- वक्रोक्ति के भेद-कुन्तक ने इसके छः भेद किये हैं-

1. वर्ण विन्यास-वक्रता-जब एक या एक से अधिक कई वर्ण किसी रचना में थोड़े अंतर से बार-बार उपनिबद्ध किये जायें-

'राको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः' इसमे यदि वर्णों का प्रयोग वैचित्र्योत्पादक हो तो रचना सहृदय के लिए अधिक आनन्ददायक होती है। कुन्तक का यह संकेत अनुप्रास तथा यमक के निकट है, क्योकि कुन्तक का वर्ण से अभिप्राय व्यंजन से ही है-

'वर्ण शब्दोडत्र व्यंजन पर्यायः'

2. पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता-वर्णों का समूह ही पद कहलाता है। जहाँ पद के पूर्वार्द्ध भाग में वक्रता हो, वहाँ पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता मानी जायेगी। कुन्तक ने आगे चलकर इसके आगे भी आठ प्रकार बताये हैं।

3. पदरपरार्ध-वक्रता-जहाँ पद के उत्तरार्ध अंश में चमत्कार हो, वहाँ यही वक्रता मानी जायेगी। कुन्तन ने इसके भी छः भेदों की चर्चा की है।

4. वाक्य-वक्रता-कुन्तक के अनुसार-

"वाकस्य वक्रभावोत्यो विद्यते यः सहस्त्रधा।"

अर्थात् वह वक्रता सहस्त्रों प्रकार से सम्भव है। उनके अनुसार इसमें अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है। कुन्तक के अनुसार वैचित्र्यपूर्ण वर्णन ही वाक्य वक्रता या वाच्यवक्रता है। इसके दो प्रकार हैं- सहजा एवं आहार्या। सहजा से उनका तात्पर्य 'स्वभावोक्ति' से है, जिसे वे अलंकार न मानकर अलंकार्य स्वीकार करते हैं। इसके माध्यम से सहज रमणीय चित्र उतारा जा सकता है। आहार्या के अन्तर्गत उपमादि अलंकार आते हैं।

5. प्रकरण वक्रता-कुन्तक के अनुसार प्रबंध का अंश 'प्रकरण' है। जब कवि प्रसंग- विशेष का उत्कर्ष करता है, तब सम्पूर्ण प्रबन्ध प्रोज्जवल हो जाता है- यही प्रकरण वक्रता है। प्रकरण को सरस, मनोरम एवं उपयोगी बनाने के लिए प्रसंग आवश्यक होते हैं। कुन्तक ने इस प्रकार के नौ प्रसंगों का भी उल्लेख किया है-1 भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, 2. उत्पाद्य लावण्य, 3 प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपाकारक भाव, 4. विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना, 5 रोचक प्रकरणों का विशेष विस्तार से वर्णन, 6 सुन्दर उप-प्रधान प्रसंग की उद्भावना आदि-आदि।

6. प्रबन्धवक्रता-यह वक्रोक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप है। इसके अन्तर्गत छः रूप है-1 मूल रस परिवर्तन, 2 कथा की मध्य में समाप्ति, 3 आकस्मिक प्रसंग, 4 नायक को फल प्राप्ति, 5 नामकरण का वैचित्र्य, 6 विशिष्ट उद्देश्य।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद क्या है, परिभाषित कीजिये।

उत्तर- भौतिकवादी यूरोप में रहकर भी सौन्दर्य के माध्यम से आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों को काव्यालोचन के सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले वेनदेतो क्रोच (1865- 1952) इटली के महत्वपूर्ण आलोचक है। इसका प्रमुख आलोचना सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद है। अभिव्यंजनावादियों का सिद्धान्त है कि कवि या कलाकार अपने अन्तर की भावना को बाहर प्रकाशित करता है बाह्य वस्तु को नहीं। यह भावना उसकी अपनी निज की वस्तु है। अपनी इस भावना को प्रकाशित करने में ही उसकी सार्थकता है। अभिव्यंजनावादियों के मत से कलाकार का काम यथार्थ का प्रतिनिधिमूलक चित्रण करना नहीं है वह या तो अपने अन्तर की भावना के अनुरूप यथार्थ को चिधिमूलक चित्रणा उस यथार्थ को स्पर्श ही नहीं करता। वह केवल अपने मन को एक अवस्था को अभिव्यंजित करता है और इस अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द रंग आदि से निर्मित ढाँचा होता है। इस प्रकार से कलाकार जिस रूप की सृष्टि करता है वह उसके मन की अवस्था में मिलती-जुलती है।

क्रोचे के मतानुसार आत्मा की दो क्रियाएँ- विचारात्मक और व्यवहारात्मक है। विचारात्मक क्रिया अर्थात् ज्ञान के भी दो रूप हैं-प्रथम सहजानुभूत ज्ञान जो कल्पना द्वारा उपलब्ध वस्तुओं को भिन्न इकाई में असम्पृक्त वैयक्तिक और विम्बात्मक ज्ञान है। दूसरा तर्कमूलक ज्ञान-"बुद्धि द्वारा उपलब्ध वस्तुओं के भिन्न सम्बन्धों से सम्पृक्त सार्वत्रिक तथा अवधारणाओं को उत्पन्न करने वाला ज्ञान है।" इसके साथ व्यवहारात्मक ज्ञान के भी दो भेद हैं। "पहला आर्थिक जिसका सम्बन्ध सांसारिक कल्याण से है, इसी कारण इसे व्यवहार का सौन्दर्यशास्त्र भी कहते हैं।" दूसरा नैतिकशास्त्र जो जीवन के सद्सद् से सम्बद्ध होने के कारण व्यवहार का तर्कशास्त्र भी कहा जाता है।

ध्वनि काव्य की आत्मा है, उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर- ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन माने जाते हैं, जिन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ ध्वन्यालोक में इस तत्व को सर्वप्रथम व्यवस्थित व्यापक और स्वच्छ रूप में प्रतिपादित किया। वामन से पूर्व के आचार्यों भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी आदि आचार्य ने यद्यपि ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया, फिर भी अनेक अलंकारों के लक्षणों अथवा उदाहरणों में स्पष्ट अथवा परोक्ष रूप से इसका समर्थन किया। इसका खण्डन भी हुआ। आगे चलकर मम्मट ने अपने मार्मिक विवेचन द्वारा ध्वनि की पुनः स्थापना की। ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में पाँच विभिन्न अर्थों में मिलता है-

1 व्यंजक शब्द ।

2. व्यंजक अर्थ।

3. व्यंजना शब्द शक्ति

4. व्यंग्यार्थ।

5. व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य।

विवेच्य प्रकरण का प्रतिपाद्य व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य है।

ध्वनि सिद्धान्त से पूर्व अलंकार, रीति तथा रस-सिद्धान्तों की त्रुटियों को पहचानते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना से सम्बद्ध ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तत्व का प्रवर्तन किया, जो आन्तरिक तत्व भी है और व्यापक भी।

ध्वनि या लक्षण

आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) अपनी-अपनी सत्ता को गौण करके जिस विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं वह ध्वनि अर्थात् व्यंग्यार्थ कहलाता है। महाकवियों की वाणी से प्रसिद्धार्थ से जो अतिरिक्त अर्थ द्योतित होता है वह ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ कहलाता है। वाच्यार्थ की यह भिन्नता उस प्रकार होती है जिस प्रकार नारी के अंगों से फूटता हुआ लावण्य उन अंगों से भिन्न रूप से भाषित होता है। संक्षेप में वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यंग्यार्थ अर्थात् ध्वनि कहलाता है। आनन्दवर्धन ने लिखा है-काव्यरस आत्मा ध्वनि रितु धैर्य सम्मानतः ।

औचित्य का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

उत्तर- औचित्य : अर्थ एवं परिभाषा उचित का भाव ही औचित्य है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु का उचित मात्रा में उपयोग ही औचित्य है। जिस प्रकार किसी वस्तु का उचित अनुपात पदार्थ, स्थान अथवा दृश्य में सुन्दरता को जन्म देता है, उसी प्रकार काव्य में अलंकार, ध्वनि रीति और रस आदि का उचित मात्रा में प्रयोग सौन्दर्य की वृद्धि करता है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र ने इसी ओर संकेत किया है।

आचार्य भरतमुनि ने बहुत पहले औचित्य के महत्व पर प्रकाश डाल दिया था। ये कहते है कि देश के अनुरूप ही पात्रों की वेशभूषा होनी चाहिए, क्योकि अनुचित स्थान की वेशभूषा ऐसे ही हास्यास्पद होती है, जैसे गले में बँधी करधनी (तगड़ी)-

आचार्य भामह और दण्डी ने दोष कथन में अप्रत्यक्ष रूप से औचित्य की ओर ही संकेत किया है। आचार्य दण्डी के गुण शब्द के अर्थ में भी औचित्य का प्रयोग किया है- 'अत्रत्यंगुणयम्' औचित्य परम। नाटककार यशोवर्मन ने सर्वप्रथम औचित्य शब्द का प्रयोग करते हुए उसके महत्व पर प्रकाश डाला कि नाटक के वचनों का औचित्य होना चाहिए। उपयुक्त अवसर पर पात्रों के अनुकूल रस की पुष्टि होनी चाहिए तथा कथा की योजना में कोई अतिक्रमण नहीं होना चाहिए।

आचार्य भट्टलोल्लट ने महाकाव्य के विभिन्न तत्वों का उल्लेख करते हुए रसानुकूल औचित्य पर बल दिया है। आचार्य रुद्रट ने दोष परिहार में औचित्य का महत्व बताया और रसौचित्य, अलंकारौचित्य, ध्वनौचित्य आदि का उल्लेख किया। आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य पर सूक्ष्मता एवं व्यापकता से विचार किया। उन्होंने बताया कि रस-रंग का प्रधान कारण है अनौचित्य। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से काव्य में रस का परिपाक नहीं होता।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा

आचार्य आनन्दवर्धन के इस विवेचन का समग्र रूप में अध्ययन करके इस विद्वान आलोचक ने लिखा है- "औचित्य सिद्धान्त को एक व्यापक काव्य-तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का समस्त श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन से ही संकेत, प्रेरणा और विचार- दिशा प्राप्त करके स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में औचित्य का नवीन अभिधान किया।"

आचार्य आनन्दवर्धन से प्रेरणा ग्रहण करके आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस, अलंकार, गुण, ध्वनि आदि सभी औचित्य का समर्थन किया। उन्होंने लिखा है कि सत्य तो यह है कि औचित्य के बिना न तो कोई अलंकार शोभा पाता है और न कोई गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण की शोभा का रहस्य औचित्य ही है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में रस को महत्व दिया, परन्तु उनका विचार है कि औचित्य के अभाव में रसानुभूति असम्भव है। इसी कारण उन्होंने औचित्य को सर्वाधिक महत्व देते हुए उसे ही काव्य की आत्मा माना- "औचित्य रससिद्धस्थ स्थिर काव्य जीवतम्।" इसके 27 भेद हैं।

औचित्य और अन्य सम्प्रदायों का सम्बन्ध लिखिये।

उत्तर- 1. औचित्य और रस सम्प्रदाय-औचित्य को रस का पोषक स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र ने तो औचित्य को रस का प्राण स्वीकार करते हुए कहा कि औचित्य से युक्त होने पर श्रृंगारादि रस जन-मन को अंकुरित करते हैं। उनके अनुसार, "जिस प्रकार बसंत अशोक को अंकुरित कर सहृदयों को आल्हादित करता है, उसी प्रकार रस-औचित्य के संयोग से औचित्य रुचिर होता है। रसानुभूति औचित्य के अभाव में सम्भव नहीं है। संक्षेप में रस और औचित्य सम्बन्धित है।"

2. औचित्य और अलंकार-औचित्य सम्प्रदाय अलंकारौचित्य के माध्यम से उचित स्थान पर अलंकारों की योजना का समर्थक है। उनके अनुरूप रसानुरूप अलंकार विन्यास ही अलंकारौचित्य है-

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणीश्चरुचर्वणे ।'

यह सम्प्रदाय रस को काव्यात्मा स्वीकार करते हुए अलंकारों को उसका पोषक मानता है। 3. औचित्य और वक्रोक्ति-कुन्तक भी इसके समर्थक हैं, क्योंकि इन्होंने वक्रता के विविध रूपों का वर्णन करते समय औचित्य का महत्व स्वीकार किया है। इनके द्वारा वर्णित वक्रोक्ति के भेदी में औचित्य का महत्व दिखाई पड़ता है।

4. औचित्य और ध्वनि-आनन्दवर्धन भी औचित्य का महत्व स्वीकार करते हुए अनीधित्य को रस-भंग का कारण बताते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि काव्य में अलंकारले हर गुणा, वृत्ति आदि की योजना औचित्य के आधार पर ही होनी चाहिए। यदि इनके प्रयोग से काम दिस होगा तो विरसता उत्पन्न हो जायेगी।

रस और औचित्य में से यद्यपि काव्यात्मा रस ही है, पर काव्य के सिद्धान्तों में से औचित्य का भी विशेष महत्व है, क्योकि इसके अभाव में रस भी नीरस हो सकता है। जहाँ से औचित्य सहायक सिद्धान्त होने का प्रश्न है, वहाँ तो यह तथ्य सर्वमान्य है कि रस को यदि काव्य की आत्मा माना जाये तो शेष सभी अंग-गुण, रीति, अलंकार, उसके उत्कर्ष में ही सहायक है, जे रसानुभूति के कारण नहीं हैं। यही स्थिति औचित्य की भी है।

आलोचना से आप क्या समझते हैं, समीक्षा का अर्थ समझ...

शास्त्रीय समीक्षा के चार प्रकार है-

(1) निर्णयात्मक समीक्षा,

(2) तुलनात्मक समीक्षा,

(3) आदर्शात्मक समीक्षा, और

(4) चारित्रिक समीक्षा।

वैज्ञानिक प्रणाली समीक्षा के पाँच प्रकार है-

(1) विवेचनात्मक समीक्षा,

(2) आध्यात्मिक समीक्षा,

(3) प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा,

(4) वैज्ञानिक समीक्षा और

(5) ऐतिहासिक समीक्षा ।

विवेचनात्मक समीक्षा के भी दो प्रकार होते हैं-

(1) अध्ययन अथवा व्याख्या के रूप में,

(2) विश्लेषण या गवेषणा आदि के रूप में।

डॉ. श्यामसुन्दरदास के अनुसार आलोचना के चार स्वरूप ही मुख्य है-

(1) सैद्धान्तिक,

(2) व्याख्यात्मक,

(3) निर्णयात्मक,

(4) स्वतन्त्र अथवा आत्मप्रधान (प्रभाववादी)।

अंग्रेजों विद्वान आलोचना के निSम्न प्रकार स्वीकार करते हैं-

हडसन के अनुसार

(1) व्याख्यात्मक

(2) निर्णयात्मक ।

पीटर के अनुसार-प्रभावात्मक, भावप्रधान या आत्मप्रधान आलोचना।

इसके साथ ही सैद्धान्तिक आलोचना का भी उल्लेख है, जिसका महत्व अप्रत्यक्ष रूप से इडसन भी स्वीकार करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा पद्धति पर प्रकाश डालिये।

उत्तर- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी में समीक्षाशास्त्र की आधारशिला ही नहीं रखी प्रत्युत अपनी मौलिक समीक्षा प्रणाली हिन्दी को दी जिसका अनुकरण आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र आदि समीक्षाओं ने किया उन्होंने, निम्नलिखित शैलियों का प्रयोग किया।

1. सैद्धान्तिक समीक्षा शैली-इस शैली के दर्शन उन निबन्धों में होते हैं जिनमें आचार्य शुक्ल ने समीक्षाशास्त्र का प्रतिपादन किया है। 'चिन्तामणि' के काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था, "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' निबन्ध तथा रस मीमांसा कृति इसी प्रकार की समीक्षा, शैली से अनुप्राणित हैं।

2. व्याख्यात्मक आलोचना-शैली-शुक्लजी की यह आलोचना शैली अत्यधिक प्रिय है जिसका प्रयोग 'उन्होंने जायसी, सूर तथा तुलसी सम्बन्धी आलोचनाओं में किया है।

3. ऐतिहासिक आलोचनात्मक शेली आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचनाओं में इस शैली का सार्थक प्रयोग किया है। 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में वे जायसी के काल की परिस्थितियों की चर्चा करते हैं और सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हैं। 'सूरदास' नामक पुस्तक के है पूर्वार्द्ध में भक्ति के विकास तथा वल्लभाचार्य के भक्ति सिद्धान्तों का गम्भीर विवेचन किया क्योंकि सूर के काव्य के मूल्यांकन के लिए ये दोनों ही चीजे जरूरी थीं।

4. तुलनात्मक आलोचना शैली-समीक्षक अपने मत को पुष्ट करने के लिए तुलनात्मक प्रयोग किया करता है।

5. निर्णयात्मक आलोचना शैली-उन्होंने अपनी आलोचनाओं में ऐसे निर्णय दिये हैं जो आज भी हिन्दी के विद्वानों को ग्राह्य हैं। जायसी पर 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में उनकी उत्पत्तियाँ आज भी विद्वानों को उसी रूप में ग्राह्य है। तुलसी के काव्यदर्शन के सम्बन्ध में उनके निर्णय लोकप्रिय हैं। साहित्य के इतिहास सम्बन्धी उनकी अनेक मान्यताएँ अब भी अपने मूल रूप में हिन्दी में स्वीकार है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की मूल्यांकन पद्धति की विवेचना कीजिये।

उत्तर- शुक्ल जी ने प्राचीन युग की समीक्षा की वहीं नन्ददुलारे वाजपेयी ने नवीन विकासोन्मुख साहित्य की समीक्षा की है। समीक्षात्मक दृष्टिकोण वाजपेयीजी ने हिन्दी आलोचना में अपने स्वछन्द विचारों के साथ पदार्पण किया है। एक कहावत है, 'नई शराब पुरानी बोतल में न भरनी चाहिए, वह फट जाती है।' इसी प्रकार नये काव्य की आलोचन भी पुरानी कसौटी पर ठीक-ठीक ढंग से नहीं हो सकती है। शुक्लजी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि का सर्वांगीण आलोचना करके हिन्दी आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित अवश्य किया था परन्तु उनकी नैतिकता की कसौटी पर सभी काव्य कसे नहीं जा सकते। इसलिए वाजपेयी ने शुक्लजी की दृष्टि को छायावादी काव्य के सन्दर्भ में अनुपयुक्त माना। उनका कथन था कि अपने पूर्वाग्रह और द्विवेदीयुगीन संस्कारों के कारण शुक्लजी छायावादी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते हैं। इसके लिये आलोचना की नई कसौटी होनी चाहिए। डॉ. भगवत स्वरूप मिश्र ने इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है- "वाजपेयी जी ने शुक्लजी के प्रबन्ध काव्यवाद तथा मर्यादावाद के कठोर नियन्त्रण से हिन्दी समीक्षा को मुक्ति दिलाई है।"

वाजपेयीजी की समीक्षा पद्धति का स्वरूप उनकी रचनाओं में मिलती है- (1) हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी (2) आधुनिक साहित्य, (3) जयशंकर प्रसाद, (4) महाकवि सूरदास, (5) प्रेमचन्द, (6) कवि निराला तथा (7) नया साहित्य नये प्रश्न।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना पद्धति पर प्रकाश डालिये।

उत्तर- आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी समीक्षा को नयी, उदार, और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की थी। वे भारतीय वाड्मय से गुजरते हुए हिन्दी क्षेत्र में आ पहुँचे और ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति का श्रीगणेश किया। उन्होंने सामाजिक परिस्थिति, सांस्कृतिक चेतना, लोकजीवन, राजनीतिक उथल-पुथल को ही दृष्टि में रखकर साहित्य का परीक्षण किया, जिसे समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के नाम से जाना गया।

समीक्षा-क्षेत्र में उनका तटस्थ चिन्तन, पूर्वाग्रह रहित चिन्तन भी एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। परिणामतः उन्होंने मानव जीवन को केन्द्र मानकर ही साहित्य को देखने का प्रयास किया। उन्होंने वर्ग, जाति, धर्म, सम्प्रदायवाद में बँटी किसी इकाई को स्वीकार नहीं किया। इस एकात्म भाव ने पूर्व और पश्चिम के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि को उभारा।

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के पक्षधर होने के कारण उन्होंने आलोचना में विविध ज्ञान शास्त्रों (इतिहास, धर्मशास्त्र, विज्ञान, पुराण, प्राच्यविद्या, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, प्रजनन शास्त्र, नृत्याशास्त्र, पुरातत्व, नीतिशास्त्र, कानून, राजनीतिशास्त्र आदि) को सहायक माना। द्विवेदीजी के समीक्षा साहित्य को दो मोटे रूप में विभाजित किया जा सकता है-

(1) साहित्य सम्बन्धी, (2) समीक्षा सम्बन्धी।

डॉ. नगेन्द्र की समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर- डॉ नगेन्द्र भारतीय काव्य-शास्त्र और आलोचना क्षेत्र के एक ऐसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व है जो बौद्धिक प्रतिभा (जीनियस) के साथ-साथ सरसता एवं सरज्ञता से युक्त है। इस कवि-सुलभ रसिकता और सृजन-संवदेना के कारण इनकी आलोचना पद्धति में रसात्मक व्यंजना का स्पर्श है। डॉ नगेन्द्र की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने बहुत लिखा है, महत्वपूर्ण लिखा है और अच्छा लिखा है। इनका प्रमुख क्षेत्र तो काव्यालोचन का ही है, पर शास्त्रीय समीक्षा पर भी कम नहीं लिखा है। 'छायावाद' पर आपकी विशेष रुचि है। डॉ नगेन्द्र स्वदेशी साहित्य के प्रति पूर्ण अनुराग रखते हुए भी पाश्चात्य चिन्तन के प्रति किसी प्रकार की हेय दृहि नहीं रखते हैं, क्योकि उनकी चेतना पर मनोविश्लेषणवाद, उपयोगितावाद प्रभावार और क्लासिज्य का समीकृत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस कारण उनकी आलोचना पद्धति को शास्त्रीय, प्रभाववादी एवं वैज्ञानिक स्वीकार किया जाता है।

स्त्रीय मुद्रा का रस-सिद्धान्त' हिन्दी साहित्य की मूल्यवान कृति स्वीकार को जाती है जिसकी अन्य अनेक विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि उसके निरूपण में वैज्ञानिक चेतना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को नूतन प्रतिष्ठा देना और रसवाद को युगबोध एवं परिवेश के सन्दर्भ में स्वीकार करने का प्रयास करना। उनकी दृष्टि हिन्दी आलोचना के उस स्वरूप को विकसित करने की ओर केन्द्रित रही है, जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य- शास्त्र का सामंजस्य बना रहे। उन्होंने इसके पुनरुत्थान का भी प्रयास किया है।

डॉ. रामविलास शर्मा के समालोचना के क्षेत्र में योगदान को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर- डॉ. रामविलास शर्मा साम्यवादी तो हैं ही, मार्क्सवादी चिन्तन से भी पूरी तरह प्रभावित है, पर अन्य प्रगतिवादियों के समान वे लकीर पीटने वाले आलोचक नहीं है। उनकी आलोचना दृष्टि व्यापक है, अतः उन्होंने प्राचीन साहित्य का भी परिपूर्ण गहराई से और तत्कालीन स्थिति विशेष के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है।

डॉ साहब में आलोचक का विशिष्ट गुण है। उनके अपने कुछ सिद्ध जीवन सिद्धान्त है, अतः वे साम्यवाद के साथ उन सिद्धान्तों से भी जुड़े रहे हैं। उनके चिन्तन के अनेक क्षेत्र हैं, पर यहाँ उनके चिन्तन को तत्व इस प्रकार हैं-

1 सापेक्ष और निरपेक्ष, 2 प्रगतिशील साहित्य, 3. सौन्दर्य का स्वरूप, 4 छायावाद,

5. मार्क्सवादी, 6 पुनर्व्याख्या और युगान्तर, 7. पुनर्मूल्यांकन, 8. भाषाशैली पर विचार, 9 आलोचना में व्यंग्य, 10 प्रयोगवाद, 11 सामाजिक यथार्थवाद के पक्षधर।

5.8 सारांश

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य रचना में छंद, अलंकार, रस आदि सभी तत्वों के औचित्य को स्वीकारा है। अनुचित अलंकार प्रयोग, अनुचित रीति, अनुचित रस एवं अर्थ, ये सभी काव्य के सौष्ठव को नष्ट कर देते हैं। अतः आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य मत का प्रतिपादन करने के साथ ही उसे काव्य की आत्मा भी स्वीकारा।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने माना कि रस सिद्ध काव्य की स्थिरता औचित्य तत्व पर ही निर्भर करती है अतः औचित्य ही प्राण है जब शरीर में प्राण है तभी अलंकार आदि की शोभा होगी, तभी रस का संचार हो सकता है. किन्तु प्राणों से रहित होने पर कोई भी विशेषता नहीं रह जाती है। अतः मूल तत्व औचित्य है जिससे काव्य में विविध गुणों एवं चमत्कार का विकास होता है।

यह औचित्य का सिद्धांत अत्यंत सरल और स्पष्ट है। सामान्य अनुभव के अनुसार इसे संयोजन का भाव भी कहा जा सकता है क्योंकि जब तक किसी वस्तु में उसके सब अंग उचित रूप से संयुक्त नहीं होंगे, तब तक उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। एकत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

इस एकत्व के विचार से औचित्य का सिद्धांत इसीलिए भी महत्वपूर्ण है कि इस सिद्धांत का प्रयोग तो किसी भी वस्तु के उसके अपने सब अंगों के सम्बन्धों का परीक्षण करने तथा उस वस्तु के साथ अन्य वस्तुओं के पारस्परिक परीक्षण के लिए भी किया जाता है। अत औचित्य का प्रधान तत्व गुण है अर्थात् कवि को, प्रत्येक तत्व के उचित प्रयोग का ध्यान रखना चाहिए।

5.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

प्रश्न 1 औचित्य के भेदों की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 2 औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3 औचित्य विवेचन की समस्याओं की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 4 सहृदय की अवधारणा एवं औचित्य विवेचन पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5 पश्चिमी चिंतन के संदर्भ में औचित्य विवेचन की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 6 हिन्दी आलोचना का विकासात्मक क्रम प्रस्तुत करते हुए प्रमुख विचारकों का योगदान निरुपित कीजिये।

प्रश्न 7 हिन्दी आलोचना के विकास पर प्रकाश डालिए।

5.10 पठनीय पुस्तकें

- भारतीय काव्यशास्त्र, योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
- भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज, राममूर्ति त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- संस्कृत आलोचना, बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।
- भारतीय काव्यशास्त्र, निशा अग्रवाल, लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद
- ग्रंथ का नाम: भारतीय काव्य सिद्धान्त
  लेखक: डॉ. ज्ञानराज काशीनाथ गायकवाड 'राजवंश'
  सन: २००८ संस्करण: द्वितीय (२०२०) प्रकाशक: साहित्य रत्नाकर

- ग्रंथ का नाम: संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र
  लेखक: महामहोपाध्याय प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र
  सन: २०१० संस्करण: प्रथम प्रकाशक: विश्वविद्यालय प्रकाशन
- ग्रंथ का नाम: काव्यशास्त्र
  लेखक: डॉ. भगीरथ मिश्र संस्करण: २०२१ प्रकाशक: विश्वविद्यालय प्रकाशन
- ग्रंथ का नाम: साहित्य का कलार्थ सौन्दर्य सिद्धान्त
  लेखक: डॉ. ज्ञानराज काशीनाथ गायकवाड 'राजवंश'
  सन: २०२२ संस्करण: २०२२ प्रकाशक: अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस
- ग्रंथ का नाम: काव्यादर्श
  लेखक: महाकवि दण्डी, व्याख्याकार - आचार्य रामचंद्र मिश् सन: ~ छटी से आठवीं शती के मध्य में संस्करण: २००५ प्रकाशक: चौखम्बा विद्याभवन